विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर

वर्ष १७
अंक १

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी – फरवरी – मार्च

★ १९७९ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी शंकरचैतन्य

वार्षिक ५)

वर्ष १७

अंक १

एक प्रति १।।)

आजीवन सदस्यता शुल्क–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

—: ० :—

कवर चित्र परिचय——स्वामी विवेकानन्द

मुद्रणस्थल : संजीव प्रिंटिंग प्रेस, नागपुर

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १७] जनवरी – फरवरी – मार्च [अंक १

★ १९७९ ★

मुमुक्षु क्या करे ?

विवेकवैराग्यगुणातिरेका-
च्छुद्धत्वमासाद्य मनो विमुक्त्यै।
भवत्यतो बुद्धिमतो मुमुक्षो-
स्ताभ्यां दृढाभ्यां भवितव्यमग्रे॥

––विवेक-वैराग्यादि गुणों के उत्कर्ष से शुद्धता को प्राप्त हुआ मन मुक्ति का हेतु होता है, अतः बुद्धिमान् मुमुक्षु को चाहिए कि वह पहले विवेक और वैराग्य दोनों को दृढ़ कर ले।

––विवेकचूड़ामणि, १७७

अग्नि-मंत्र

(स्वामी त्रिगुणातीतानन्द को लिखित)

जनवरी, १८९६

प्रिय सारदा,

...पत्रिका के बारे में तुम्हारा विचार वास्तव में अति उत्तम है, पूर्ण शक्ति के साथ जुट जाओ, कोष की चिन्ता मत करो। तुम्हारा पत्र मिलने पर मैं ५०० रुपये तत्काल भेज दूंगा, रुपयों के लिए चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। फिलहाल इस पत्र को दिखाकर किसी से कर्ज ले लो। इस पत्र के जवाब मिलने पर—पत्रोत्तर के साथ ही साथ ५०० रुपये मैं भेज दूंगा। ५०० रुपयों में बनता-बिगड़ता ही क्या है? ईसाई तथा इस्लाम धर्म का प्रचार करनेवाले बहुत से लोग हैं, तुम अब अपने देश के धर्म के प्रचार में जुट जाओ। यदि हो सके तो किसी अरबी भाषा जाननेवाले व्यक्ति के द्वारा प्राचीन अरबी पुस्तकों का अनुवाद करा सको, तो अच्छा है। फारसी भाषा में भारतीय इतिहास की बहुत सी बातें विद्यमान हैं। यदि क्रमशः उनके अनुवाद हो सकें, तो एक अत्युत्तम धारावाहिक विषय होगा। अनेक लेखकों की आवश्यकता है। साथ ही ग्राहकों की भी समस्या है। इसका एकमात्र उपाय यह है कि तुम विभिन्न स्थानों में पर्यटन करते रहते हो, जहाँ कहीं भी बँगला भाषा का प्रचलन हो, वहाँ पर लोगों के माथे

पत्रिका मढ़ देना। दृढ़ता के साथ उनको ग्राहक बनाओ! वे तो सदा ही पीछे हट जाते हैं, जहाँ कुछ खर्च करने का प्रश्न आता है। किसी बात की कभी परवाह मत करो। पत्रिका का प्रकाशन होना चाहिए, आगे बढ़े चलो। शशि, शरत्, काली आदि सब कोई अध्ययन कर लिखने में जुट जायँ। घर पर बैठे बैठे क्या हो सकता है? तुमने बहुत बहादुरी की है। शाबास! हिचकनेवाले पीछे रह जायँगे और तुम कूदकर सबके आगे पहुँच जाओगे। जो अपने उद्धार में लगे हुए हैं, वे न तो अपना उद्धार ही कर सकेंगे और न दूसरों का। ऐसा शोर-गुल मचाओ कि उसकी आवाज दुनिया के कोने कोने में फैल जाय। कुछ लोग ऐसे हैं, जो कि दूसरों कि त्रुटियों को देखने के लिए तैयार बैठे हैं, किन्तु कार्य करने के समय उनका पता नहीं चलता है। जुट जाओ, अपनी शक्ति के अनुसार आगे बढ़ो। इसके बाद मैं भारत पहुँचकर सारे देश में उत्तेजना फूँक दूँगा। डर किस बात का है? 'नहीं है, नहीं है, कहने से साँप का विष भी नहीं रहता है।' 'नहीं', 'नहीं' कहने से तो 'नहीं' हो जाना पड़ेगा!

गंगाधर ने बहुत बहादुरी दिखायी है। शाबास! काली उसके साथ काम में जुट गया है। खूब शाबाश! कोई मद्रास चले जाओ, कोई बम्बई। छान डालो-- सारी दुनिया को छान डालो! अफसोस इस बात का है कि यदि मुझ जैसे दो-चार व्यक्ति भी तुम्हारे साथी होते--

तमाम संसार हिल उठता। क्या करूँ, धीरे धीरे अग्रसर होना पड़ रहा है। तूफान मचा दो, तूफान! किसी को चीन भेज दो,किसी को जापान। बेचारे गृहस्थ अपनी तनिक सी जिन्दगी से कर ही क्या सकते हैं?

'ह-र, ह-र, श-म्भो!' के नारे से गगन विदीर्ण करना तो संन्यासियों, शिवगणों से ही सम्भव है।

तुम्हारा ही,
विवेकानन्द

●

पाठकों को विशेष सुविधा

विवेक-ज्योति के पुराने निम्न १६ अंक मात्र १६) अग्रिम भेजकर बिना अतिरिक्त डाकखर्च के प्राप्त करें। अन्यथा वी. पी. व्यय ग्राहकों को देय होगा।

वर्ष	८	सन्	१९७० का अंक [illegible]	प्रति अंक मूल्य	१)
,,	९	,,	१९७१ के अंक २, [illegible]	,,	,,
,,	१०	,,	१९७२ के अंक [illegible], ४	,,	,,
,,	११	,,	१९७३ के अंक २, ३, ४	,,	,,
,,	१२	,,	१९७४ के अंक २, ३, ४	,,	१)५०
,,	१३	,,	१९७५ के चारों अंक	,,	,,
,,	१४	,,	१९७६ के चारों अंक	,,	,,
,,	१५	,,	१९७७ के अंक १, ४	,,	,,
,,	१६	,,	१९७८ का अंक २	,,	,,

लिखें—व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय,
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

संन्यासी और गृहस्थ सभी के ऊपर माँ का समान रूप से प्रेम था। गृहस्थ-भक्तों के लड़के-लड़कियाँ भी जब माँ के पास आते थे, तब उन्हें ऐसा कभी नहीं लगता था कि उनके प्रति किसी प्रकार भेद-भरा आचरण है अथवा प्रेम-ममता में किसी प्रकार की कमी है। माँ की सहानुभूति और समवेदना उनकी सुख-दु:खभरी संसार-यात्रा में होनेवाली अन्दर की दु:ख-वेदना की ज्वाला कम कर देती और आनन्द-उत्साह बढ़ा देती। माँ बहुतों के घर की, परिवार-परिजन की, नौकरी-रोजगार आदि सांसारिक परि-स्थितियों की खोज-खबर लेती रहतीं। उनसे किसी समस्या की बात कहने पर बड़े मनोयोग से सुनतीं और उचित कर्तव्य का निर्देश और उपदेश देतीं। दूर स्थानों में रहनेवाले बहुत से सन्तान-शिष्यगण माँ को हमेशा चिट्ठी-पत्र लिखकर अपनी स्वयं की अवस्था जनाते रहते और दु:ख-विपत्ति में उनके उप-देश और आशीर्वाद की प्रार्थना करते। माँ के पास संन्यासी और गृही दोनों प्रकार के भक्तों से बहुत सारी चिट्ठियाँ आती रहतीं। माँ वे सब चिट्ठियाँ बड़े मनोयोग से सुनतीं और स्वयं बोलकर उनके उत्तर लिखवातीं। श्रीठाकुर के अन्तरंग शिष्यगण और विशिष्ट जन भी किसी विशेष कार्य के आरम्भ करने

के लिए एवं आशीर्वाद-लाभ के लिए पत्र लिखते। इस दीन सन्तान को इस प्रकार के अनेकों पत्र देखने का सौभाग्य मिला था। यदि उस समय थोड़ी भी बुद्धि रहती, तो वे अमूल्य रत्न निश्चय ही संग्रहित होकर यत्नपूर्वक सुरक्षित रहते। पर क्या किया जाय, निर्बोध होने से हाथ में पाकर भी मैं रख नहीं पाया, स्वयं अपने हाथों से उन पत्रों को नष्ट कर दिया —अब मन में बड़ा अफसोस होता है। स्मृति के सहारे कुछ पत्रों की सार बात याद करने की चेष्टा करूँगा :-

१. पूज्यपाद राजा महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) का श्री माँ के पादपद्मों में भक्तिपूर्ण दण्डवत् प्रणाम निवेदन के पश्चात् अत्यन्त विनम्र भाव से भुवनेश्वर में मठ-स्थापन के लिए अनुमति-याचना और आशीर्वाद की प्रार्थना लिया हुआ पत्र। उत्तर में माँ का सन्तोष व्यक्त करना एवं ठाकुर की कृपा से शुभकार्य सम्पन्न होने के लिए शुभाशीर्वाद प्रदान करना।

२. पूज्यपाद बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) का अस्वस्थ होने पर स्वास्थ्य-लाभ के लिए देवघर जाकर वहाँ से श्री माँ के श्रीचरणों में भक्तिपूर्ण साष्टांग प्रणाम-निवेदन तथा उनके स्नेहाशीर्वाद की प्रार्थना करते हुए लिखा गया हृदय के आवेग और आकुलता से भरा हुआ पत्र। उत्तर में माँ का दु:ख प्रकट करना तथा उद्वेग से ठाकुर के निकट मंगल कामना करना।

३. पूजनीय शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) का पत्र--माँ के पत्र के अनुसार किसी काम के लिए जयरामवाटी कुछ रुपये भिजवाने की बात थी--महाराज ने गणेन महाराज को रुपये भेजने के लिए कहा और बाद में खोज लेने पर गणेन महाराज से यह जानने पर कि रुपये भेज दिये गये हैं, वे निश्चिन्त हो गये। जयरामवाटी में रुपये का प्रयोजन न पड़ने के कारण माँ ने भी किसी से खोज-खबर नहीं ली। कुछ दिन बाद गणेन महाराज ने बतलाया कि रुपये नहीं भेजे गये हैं, उन्होंने भ्रमवश कह दिया था कि भेजे गये हैं। यह मालूम पड़ने पर शरत् महाराज बहुत अधिक उद्विग्न हो उठे और उन्होंने चिन्तित हो अत्यन्त शोक प्रकट करते हुए अपराध को क्षमा करने के लिए खूब कातर होकर पत्र द्वारा माँ से प्रार्थना की। उत्तर में माँ का रुपयों की जरूरत न पड़ने का समाचार देना और ठाकुरजी की इच्छा से रुपया न भेजना अच्छा ही हुआ कहकर अभय एवं आशीर्वाद प्रदान करना।

४. पूजनीय बलरामबाबू के सुपुत्र रामबाबू को विस्तृत पत्रावली, अपनी माता की अन्तिम बीमारी, देहत्याग, श्राद्धादि कर्मों का विस्तार से वर्णन तथा स्नेह-आशीर्वाद की प्रार्थना। उत्तर में माँ का दुःख-प्रकाश और श्राद्धादि भलीभाँति सम्पन्न होने के लिए आशीर्वाद एवं बाद में श्राद्ध अच्छी तरह हुआ जानने

पर सन्तोष व्यक्त करना ।

५. मायावती से लिखे स्वामी प्रज्ञानन्दजी के समस्त पत्र । उद्‌बोधन में स्वामी प्रज्ञानन्द और उनकी सहोदरा सुधीरा देवी माँ के विशेष स्नेह और कृपा-लाभ का सौभाग्य पाकर आकर्षित हुए थे । मायावती से विस्तृत पत्र लिखकर वे माँ के निकट अपने हृदय की आकांक्षा निवेदित करते और स्नेहाशीर्वाद की प्रार्थना करते । उनके पत्रों में सूक्ष्मता के साथ मायावती का सुन्दर वर्णन होता । एक पत्र में लिखा था--रात में आश्रम में बाघ आता है, बाघ की गर्जना सुनायी पड़ती है । सुनकर माँ को बहुत भय-चिन्ता हुई थी । मायावती से उन्होंने माँ के नये मकान में लगाने के लिए डहलिया के बीज भेजे थे । और ख्याल आता है--दो भोटिया बहनें रमादेवी और सुरमादेवी की भक्ति की प्रशंसा करते हुए लिखा गया उनका पत्र, उन बहनों द्वारा अपने हाथ से बनाकर भेजा गया एक सुन्दर गलीचे का आसन ।

६. श्री अरविन्द घोष की धर्मपत्नी का विस्तृत पत्र, जिसमें इन्होंनें अपने पति के बारे में विस्तार से लिखा था । श्री माँ के श्रीचरणों की आश्रिता इस भक्तिमती महिला ने माँ की सेवा के लिए कुछ रुपये भी भेजे थे, ऐसा ख्याल पड़ता है ।

उस समय देश की अवस्था अत्यन्त संकटजनक थी । क्रान्तिकारियों के दमन के लिए प्रयत्नशील ब्रिटिश

सरकार का अमानुषिक अत्याचार लोगों में भय का संचार कर रहा था, चारों तरफ पुलिस की कड़ी नजर थी। रामकृष्ण संघ के साधुगण भी पुलिस के सन्देह के शिकार थे; कोआलपाड़ा और जयरामवाटी पर पुलिस सूक्ष्म निगरानी रखती। यह अंचल मलेरिया से ग्रस्त, दुर्गम और अशिक्षित गरीब लोगों का वास-स्थान था, इसलिए स्वस्थ, सबल, देश-प्रेमी युवकों को कैद में रखने की व्यवस्था सरकार ने वहाँ की थी। इस अंचल के प्राय: प्रत्येक थाने में इस प्रकार के बन्दी युवक देखे जाते थे। उनमें माँ के स्नेहाशीर्वाद प्राप्त युवक भी थे। माँ का मन उनके लिए आकुल रहता। उनमें कोई कोई सुविधानुसार पत्र लिखते। उन सब पत्रों पर पुलिस की सील लगी देखकर माँ जान जातीं। ऐसे पत्र पाने पर माँ अनेक क्षण उन पत्रों को हाथ में लेकर उस सील को अश्रुपूर्ण नेत्रों से ताकती रहतीं। कभी कभी दो-एक वाक्यों में उनके भीतर की अवरुद्ध वेदना बाहर फूट पड़ती।

भक्तों के पत्रों में माँ के पास से समाधान की आशा से कभी कभी कठिन समस्याओं का उल्लेख होता। माँ यथोचित उत्तर देतीं। उसकी कुछ जानकारी देने की मैं चेष्टा करूँगा। एक भक्त महिला ने लिखा था कि उसके पति को ससार अब अच्छा नहीं लगता, वे छोटे छोटे बच्चों के साथ स्त्री को बाप के यहाँ भेज देना चाहते हैं और स्वय संसार त्यागकर

साधु होना चाहते हैं। पत्र सुनते ही माँ दुःख से अधीर हो उठीं। बोलीं, "देखो तो, कैसा अन्याय है! वह बेचारी कम उमर की लड़की—— कच्चे-बच्चे लेकर कहाँ जाय, क्या करे?" उसके पश्चात् दृढ़ स्वर में बोलीं, "उसको लिख दो संसार-त्याग से मना करते हुए। पहले बच्चों को मनुष्य बनाए। रोजगार करके रुपया-पैसा कमाए और उनके रहने-खाने की उचित व्यवस्था करे। उसके बाद फिर देखा जायगा।"

एक दूसरे ने लिखा था कि वह जो नौकरी करता है, उसमें बीच बीच में उसे झूठ बोलना पड़ जाता है, इसलिए वह नौकरी छोड़ देने की इच्छा करता है, परन्तु सांसारिक बोझ के कारण नहीं कर पा रहा है, क्योंकि भरण-पोषण का अन्य कोई उपाय नहीं है। ऐसे मानसिक पशोपेश में किंकर्तव्यविमूढ़ होकर उस भक्त ने माँ के पास उपदेश की प्रार्थना की थी। माँ पत्र सुनकर भक्त के लिए चिन्तित हो थोड़ा सोचती रहीं, फिर अपने इस लेखक से बोलीं, "उसे लिख दो नौकरी छोड़े मत।" अल्पवयस्क लेखक सोचने लगा कि माँ ऐसा आदेश क्यों दे रही हैं, वह तो अच्छे रास्ते पर ही चलना चाहता है। वह लिखने में थोड़ी हिचकिचाहट का अनुभव करने लगा। माँ उसे समझाकर बोलीं, "आज एक साधारणसा झूठ बोलने में भय पाता है, किन्तु नौकरी छोड़ देने पर तंगी में पड़कर चोरी-डकैती करने तक में भय का अनुभव नहीं करेगा।" यह अन्तिम

बात कि 'चोरी-डकैती करने तक में भय का अनुभव नहीं करेगा, तंगी में पड़कर——' माँ ने खेद के साथ दो-तीन बार दुहराया। माँ की दूरदृष्टि और सन्तान की सुरक्षा का उनका आग्रह देख लेखक विस्मित हुआ।

अन्य एक भक्त ने लिखा था—— उनके घर में श्रीठाकुर और माँ के चित्रपट आसन पर विराजित थे, नित्य पूजा, भोग, आरती होती है, लड़के-लड़कियाँ करते हैं। एक दिन उनकी छोटी कन्या ने आरती करके गलती से दीप लकड़ी के आसन के नीचे रख दिया। उससे कपड़े में आग लग गयी और ठाकुर-माँ के चित्रपट भी जलकर खाक हो गये। वे लोग इससे बड़े भयभीत और संत्रस्त हो उठे हैं तथा माँ से आशीर्वाद की प्रार्थना कर रहे हैं। घटना जानकर माँ को दुःख और चिन्ता हुई, बोलीं, "यह सब पूजा-आरती आदि बड़ा कठिन काम है, बड़ी सावधानी से करना पड़ता है। यह सब काम मठ-आश्रम में ही शोभा पाता है, नहीं तो क्या मैं सन्ध्या के समय थोड़ा सा धूप-धूना नहीं दे सकती!!" बार बार अफसोस प्रकट करती हुई माँ ने उन लोगों को अभय देते और आशीर्वाद जनाते हुए भविष्य में सावधानी बरतने के लिए लिख देने को कहा।

(क्रमशः)

●

स्वामी प्रेमानन्द

स्वामी ज्ञानात्मानन्द

(लेखक श्रीरामकृष्ण-संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। इन्हें श्रीरामकृष्णदेव के कई अन्तरंग शिष्यों के दर्शन का तथा इनमें से कुछ के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का तथा सेवा करने का भी दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इन्होंने अपने संस्मरणों को 'पुण्य स्मृति' के नाम से बँगला में प्रकाशित किया है, जहाँ से प्रस्तुत लेख गृहीत हुआ है। इस लेखमाला के शेष लेख 'विवेक-ज्योति' के अगले अंकों में धारावाहिक रूप से प्रकाशित किये जायँगे। ——स.)

बहुत सम्भव १९१५ साल में सर्वप्रथम मैंने बेलुड़ मठ के दर्शन किये थे। तब मैं कलकत्ते में तीसरी वार्षिक श्रेणी (सातवीं) में पढ़ता था। इससे पहले गाँव की पाठशाला में स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) की कोई कोई पुस्तक पढ़ने का सौभाग्य मिला था। किन्तु जिन शिक्षक ने मुझे ये पुस्तकें पहली बार पढ़ने को दी थीं, उन्होंने उन्हें छुपाकर पढ़ने को कहा था। इसके पहले बंग-भंग आन्दोलन आरम्भ हो गया था। उस समय यद्यपि हम लोगों ने कैशोर अवस्था पार नहीं की थी, फिर भी उसमें कुछ कुछ सक्रिय भाग ले सकने पर हम लोग गौरव का अनुभव करते और अपने अन्तस्तल में ऐसा अनुभव करते कि जब तक इस देश से विदेशी शासन दूर नहीं होगा, तब तक हम लोगों की उन्नति बिल्कुल ही सम्भव नहीं। इसलिए इस प्रकार स्वामीजी की किताबों को छुपाकर पढ़ने से मन में ऐसा भाव हुआ कि वे भी एक सक्रिय क्रान्तिकारी

थे और मैंने अपने मन में निस्सान्दिग्ध रूप से इस प्रकार की एक दृढ़ धारणा बना ली कि यदि उनका शरीर बचा होता, तो वे भी एक राजनैतिक विप्लवी नेता होते। फिर, उस सुदूर ग्रामांचल में कलकत्ता से लौटनेवाले शिक्षकों या भद्रलोगों से सुनने को मिलता कि स्वामीजी द्वारा स्थापित बेलुड़ मठ बंकिमबाबू के प्रसिद्ध उपन्यास में वर्णित आनन्द-मठ का ही मानो द्वितीय संस्करण है, और यह कि वहाँ के साधु लोग भी गुप्त रूप से अँगरेजों को हटाने के लिए सब प्रकार से चेष्टा कर रहे हैं। सुनकर मन में आनन्द और गर्व का अनुभव करता।

किन्तु ग्रामीण स्कूल से पास कर कलकत्ते में आने के बाद एकदम दूसरे वातावरण में रहने के कारण स्वामीजी और उनके स्थापित मठ के विषय में कुछ जानने का विचार तक मन में नहीं उठा। पहले एक ब्राह्म कालेज और बाद में एक क्रिश्चियन कालेज में भरती हुआ था, जहाँ कि इस प्रकार की चर्चा करने का कोई सुयोग ही न था। कलकत्ते में जिस घर में रहता, वहाँ के अभिभावकगण अपने व्यवसाय को लेकर ही व्यस्त रहते, इसलिए उनके पास भी स्वामीजी और बेलुड़ मठ के विषय में कोई चर्चा नहीं सुन पाता।

इस प्रकार दो साल कट गये। तीसरे साल (सन् १९१५) हठात् मेरे एक समवयस्क मित्र ने आकर कहा, "आज शाम को पारसीबागान रामकृष्ण आश्रम

के प्रयास से बेलुड़ मठ में स्वामीजी के विषय में एक सभा होगी। यदि तुम चाहो, तो हमारे साथ वहाँ चल सकते हो।" उसका कहना सुनकर मैं फौरन राजी हो गया और जाने के लिए प्रस्तुत होने लगा। ऐसे समय उस घर में आये एक प्रौढ़ सज्जन बोले, "तुम लोग जब बेलुड़ मठ जा रहे हो, तो हमें भी साथ ले लो। मेरा एक पुत्र वहाँ ब्रह्मचारी के रूप में रहता है।" सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई और यथासमय हम लोग उनको साथ ले बेलुड़ मठ रवाना हुए।

सभा आरम्भ होने से कुछ पहले हम लोग वहाँ पहुँचे। उन सज्जन ने कहा कि बहुत से साधु उनके पूर्वपरिचित हैं; और यह कहकर वे उन लोगों के साथ व्यस्त हो गये। हम लोग भी इसी बीच सारा प्रांगण घूम-घूमकर देखने लगे। हम लोगों ने कल्पना कर रखी थी कि मठ किसी विशिष्ट चूड़ा-गुम्बज से मण्डित मन्दिर की नाईं होगा। किन्तु देखा कि वहाँ मात्र दो मकान हैं। एक में है ठाकुर-घर और दूसरे में साधु रहते हैं। इन दो को छोड़ वहाँ उस समय और कोई मन्दिर न था। निकट दक्षिणी भाग में एक विस्तीर्ण मैदान मात्र था। देखकर मन में लगा कि 'बेलुड़ मठ' के नाम से जो सूचना निकली थी, उसमें कहीं भूल थी। बहुत सम्भव 'बेलुड़ माठ' (बंगाली में माठ यानी मैदान) के स्थान पर 'बेलुड़ मठ' छप गया है।

यथासमय सभा आरम्भ हुई। सभा के एक भाग में स्वामीजी की परिव्राजक अवस्था की एक विशाल छबि सजायी गई थी। छबि बहुत ही अच्छी लगी। मन में लगा कि ऐसा ही तो संन्यासी चाहिए, जो बिना फूटी कौड़ी के भारत के एक प्रदेश से लेकर दूसरे प्रदेश तक भ्रमण करके, ब्राह्मण से चाण्डाल तक सबके घर में अतिथि के रूप से निवास करता हुआ भारत के यथार्थ मर्म से अवगत हुआ था। सभा के प्रारम्भ में हमारे सहपाठी दयामय मित्र (भुलुबाबू) ने स्वामीजी की कविता Song of the Sannyasin (संन्यासी का गीत) की आवृत्ति की। उस समय मैं यह नहीं जानता था कि भुलुबाबू श्रीरामकृष्णदेव की अन्तरंग' शिष्या योगीन-माँ के नाती हैं और उद्‌बोधन (श्री माँ के निवासस्थान) में ही रहते हैं। इसलिए उन्हें इतने संन्यासियों के बीच खड़े होकर इस प्रकार आवृत्ति करते देख उस समय मेरे मन में उनके प्रति विपरीत भाव ही उत्पन्न हुआ था। जो हो, सभा आरम्भ हुई और पारसीबागान रामकृष्ण समिति की ओर से एक प्रौढ़ सज्जन ने स्वामीजी के सम्बन्ध में एक प्रबन्ध पढ़ा, जो बहुत अधिक लम्बा न था। वह पढ़ते पढ़ते जब वे स्वामीजी की शिकागो-वक्तृता के विषय में बोलने लगे कि उस दिन शिकागो की सभा में सचमुच ही शिव की भेरी ही बजी थी, तो यह सुनकर, अभी भी

याद पड़ता है, मेरे सर्वांग में रोमांच हो आया था। उस समय मन में विचार उठा था——ठीक ही तो है, उस विश्वसभा में भला और किसने पराधीन भारत के मर्म को इस प्रकार खोलकर रखा था? अन्य किसने कहा था कि भारत आज भी जीवित है? किसने कहा था कि उनके इस धर्म की शाश्वत वाणी ही एक दिन समग्र विश्व को प्राणवान बनाएगी?

सभा समाप्त हुई और हम लोग जब वापस लौटने की तैयारी करने लगे तो ऐसे समय एक गौरवर्ण के, कुछ क्षीणकाय, संन्यासी आकर सबसे कहने लगे कि बिना श्रीठाकुरजी का प्रसाद लिये कोई न जाए। उनका यह सविनय निवेदन हम लोगों को कुछ नया-सा लगा, क्योंकि कलकत्ते की ओर किसी सभा में इस प्रकार तो नहीं देखा था। बाद में सुना कि वे ही बाबूराम महाराज अथवा स्वामी प्रेमानन्द हैं, जिनके प्रेम से आकृष्ट हो रोज कितने ही भक्त और युवकगण मठ में एकत्र होते हैं और श्रीठाकुर का प्रसाद पाकर कृतार्थ होते हैं।

इसके उपरान्त दो वर्ष तक मठ की ओर नहीं आया। मठ और पूजनीय बाबूराम महाराज की स्मृति एक प्रकार से मन से मिट चली थी। इसके बाद जब मैं कलकत्ता विश्वविद्यालय के पंचम वर्ष में पढ़ता था, तब मेरे पूर्वपरिचित मित्र नीरद सान्याल, जो बाद में स्वामी अखिलानन्द के नाम से परिचित

हुए, एक दिन मेरे निकट आकर बोले, "भाई, आज हम बहुत से मित्र एक सुन्दर स्थान को जा रहे हैं, तुम भी हमारे साथ चलो।" नया स्थान देखने के प्रलोभन से मैं उनके साथ जाने को राजी हुआ और हम लोग हावड़ा स्टेशन पहुँचे। वहाँ आकर देखा कि हमारे ही सहपाठी श्री अनंग नियोगी, जितेन विश्वास और द्विजेन चौधुरी तथा और कुछ युवक मानो हमारे लिए वहाँ प्रतीक्षा कर रहे थे (ये ही बाद में रामकृष्ण-संघ में स्वामी ओंकारानन्द, स्वामी विश्वानन्द और स्वामी विविदिषानन्द के नाम से परिचित हुए थे)। ये लोग छुट्टी के समय प्राय: बेलुड़ मठ आया जाया करते थे, यह मैं नहीं जानता था। जो हो, यथासमय लिलुआ स्टेशन के लिए हम लोगों ने टिकट कटायी। सब लोग रास्ते में नाना प्रकार के विषयों की चर्चा करने लगे। तब भी, यह बात मैं किसी के मुँह से नहीं सुन सका कि हम लोग बेलुड़ मठ जा रहे हैं। इसके एक दिन पूर्व ही पूर्वबंगाल के ढाका शहर में राजनैतिक कारणों से करीब साठ मकानों में खाना-तलाशी हुई थी। इसी विषय में विशेष रूप से चर्चा होती रही। तत्कालीन अँगरेज सरकार के इस प्रकार के अत्याचारों की आलोचना ही चर्चा का प्रमुख विषय थी।

देखते देखते हम लोग बेलुड़ मठ के पुराने दरवाजे पर (प्रमुख द्वार के पास) पहुँचे। तब यह नहीं

जानता था कि यही बेलुड़ मठ का प्रमुख द्वार है। मैंने देखा कि मित्र लोग उसके निकट आते ही भूमिष्ठ हो प्रणाम करने लगे और उनमें से एक बोला--"अब चुप रहो। हम लोग परमतीर्थ बेलुड़ मठ में उपस्थित हुए हैं।" इसके पहले उनमें से एक हम सबसे पूछ रहा था, "अच्छा बोलो तो, राजनीति बड़ी या धर्म ?" उनमें से प्रायः सभी ने कहा कि धर्म बड़ा है। उस समय मैं उग्र राजनीति के साथ संयुक्त था। इसलिए उनका यह उत्तर मुझे बिल्कुल ही अच्छा न लगा। सोचा कि यह उनके मन की दुर्बलता की निशानी है। इसलिए मैं उनके कथन का प्रतिवाद कर बोला, "जो धर्म वर्तमान राजनीति के साथ संयुक्त नहीं है, मैं उसमें विश्वास नहीं करता। देश की मुक्ति प्रथम आवश्यकता है। पर उसके साथ यदि धर्म संयुक्त न हो, तो यह मुक्ति का प्रयास विपथ में जा सकता है। इसलिए धर्म और राजनीति दोनों को साथ साथ चलाना आवश्यक है।" मैं यह नहीं जानता था कि मित्र लोग अभी तक मेरे मन की परीक्षा कर रहे थे। मेरे मन की अवस्था समझने पर उनमें से एक बोल उठा, "हाँ, हाँ, इसका कहना ठीक है। हमारे लिए दोनों को एक साथ चलाना ही उचित है।" यह तो मैं कुछ समय बाद ही जान पाया कि वे सभी मेरी ही तरह के विचारवाले थे।

मठ के खुले मैदान को पार कर हम लोग

श्रीठाकुर के मन्दिर के निकट उपस्थित हुए। मन्दिर की सीढ़ी से ऊपर जाकर सभी मित्र भक्तिभाव से ठाकुरजी को प्रणाम करने लगे। मैंने भी वैसा किया।

नीचे उतरकर देखा वही पूर्व-परिचित गौरवर्ण के संन्यासी एक बेंच पर बैठे हुए हैं। बाद में मालूम पड़ा कि वे ही बाबूराम महाराज अथवा स्वामी प्रेमानन्दजी हैं। उनके चारों ओर भक्त बैठे हुए थे। हम लोगों ने उन्हें भक्तिभाव से प्रणाम किया और उन भक्तों के बीच थोड़ा स्थान बनाकर बैठ गये इसके पूर्व वे क्या चर्चा कर रहे थे, पता नहीं। किन्तु हम लोगों को देखकर हो या कोई अन्य कारण से हो, एक भक्त (जिनके सम्बन्ध में बाद में सुना कि वे कलकत्ता मेडिकल कालेज के तत्कालीन सचिव श्री सुरेन्द्र-नाथ चक्रवर्ती थे और जिनकी तर्कप्रियता के कारण उनके मित्र उन्हें Hegel कहकर बुलाते थे) हठात् उन साधु से प्रश्न कर बैठे, "महाराज, यही देखिए न, आजकल के युवक क्या लेकर मतवाले हो रहे हैं। ये लोग देश के लिए अपने माथे की बलि देने को भी प्रस्तुत हैं और आप लोग यहाँ बैठकर क्या कर रहे हैं ? सिर्फ खिचड़ी खिला रहे हैं और ठाकुर के नाम का प्रचार कर रहे हैं। क्या यही वर्तमान धर्म है ?" पूजनीय महाराज यह सुन कुछ क्षण चुप बैठे रहे। उनके निकट ही एक दरवाजे के ऊपर स्वामी विवेकानन्दजी की वीरवेश की (जिस वेश में स्वामीजी ने शिकागो की धर्मसभा में पहली

बार वक्तृता दी थी) छबि टँगी थी, उसकी ओर अंगुली दिखाकर वे बोले, "देखो, यदि तुम्हारे देश को राजनैतिक अथवा समाजनैतिक नेता का प्रयोजन होता, तो क्या ठाकुर इनको उस रूप में तुम्हारे पास नहीं भेजते? वह न कर उन्होंने इनको क्या बनाया? एक कौड़ीहीन कौपीनधारी संन्यासी मात्र। यह देखकर भी क्या तुम नहीं समझ पाते कि तुम्हारे देश को किसकी जरूरत है, अथवा यह कि तुम्हारा क्या आदर्श होना उचित है?" किन्तु हेगल महोदय भी छोड़नेवाले जीव न थे। वे बोले, "किन्तु जो भी कहिए, उनके हाथ में क्या कमण्डलु शोभा देता है?—उनकी कमर से एक तलवार लटकने पर क्या ठीक ठीक शोभा नहीं होती?" बाबूराम महाराज उनको कोई उत्तर न दे कहने लगे, 'हरिबोल' 'हरिबोल'। हेगल भी बोल उठे, "यह तो आपकी अच्छी बात है, जब भी किसी गोलमाल में पड़ते हैं, तभी बोलने लगते हैं 'हरिबोल' 'हरिबोल'।' बाबूराम महाराज उस बात का कोई उत्तर न दे अपनी उसी दिव्य भावोद्दीपक मुद्रा में बैठे रहे। उनकी इस छोटी-सी बात ने ही मानो अज्ञातरूप से मेरे हृदय में धर्म का प्रथम बीज बो दिया।

कुछ समय उपरान्त भोग उठने की एक घण्टी पड़ी। बाबूराम महाराज चौंककर बोल उठे, "अरे, भक्त आये हुए हैं, प्रसाद दे, प्रसाद दे।" इस प्रकार प्रातः दो बार, दोपहर में एक बार और जहाँ तक मुझे

याद पड़ता है शाम को दो बार भोग की घण्टी पड़ी थी और बाबूराम महाराज ने प्रत्येक बार हम लोगों को इस प्रकार प्रसाद दिलवाया था। किन्तु प्रत्येक बार मैं मन ही मन हँसता और सोचता था, "अहा, क्या भक्त का चुनाव किया है! यही स्वामीजी के विचार-शील गुरुभाई हैं!" किन्तु मित्र लोग बाद में बतला रहे थे कि बाबूराम महाराज कहा करते हैं, "मैं ठाकुर का माहात्म्य जानूँ या न जानूँ, पर उनके प्रसाद का माहात्म्य अच्छी तरह समझ सकता हूँ। यह जिसने भी एक बार ग्रहण किया, उसके भक्ति होगी ही होगी।" तब यह बात मैं एकदम ही नहीं समझ पाया था। किन्तु उसके दो-तीन वर्ष बाद जब पूजनीय हरि महाराज और महापुरुष महाराज की कृपा से मैंने बेलुड़ मठ में साधु के रूप में प्रवेश लिया, तब मन में लगा कि इतने दिन बाद सचमुच उसी सुप्त बीज से ही तो धर्म अंकुरित हुआ है।

इसके बाद भी मित्रों के अत्यन्त आग्रह से और दो-एक बार बाबूराम महाराज के दर्शन करने का सौभाग्य हुआ था। किन्तु तब मैं उग्र राजनीति को लेकर खूब व्यस्त था। इसलिए मैंने मित्रों से विनय-पूर्वक कह दिया था, "भाई मुझको छोड़ दो। मैं दो नौकाओं पर एक साथ पैर नहीं रख सकता। इस समय मुझे राजनीति में ही रहने दो। बाद में समय आने पर तुम लोगों द्वारा प्रदर्शित धर्मजीवन यापन करने की

चेष्टा करूँगा।"

लगता है भगवान् अलक्ष्य में मेरी बातें सुन रहे थे, इसलिए वही कार्य में परिणत हुआ। इसके कुछ उपरान्त ही उग्र राजनीतिक आन्दोलन के फलस्वरूप प्रायः वर्षभर से ऊपर मुझे कारागार आदि में बन्दी जीवन बिताना पड़ा। बाद में पूजनीय हरि महाराज की अशेष कृपा से मेरा धर्मजीवन आरम्भ हुआ और मैंने मठ में योगदान दिया।

किन्तु उस कारागार-वास के समय, जानता नहीं क्यों, बीच बीच में उस अद्भुत, पावनचरित्र, यथार्थ प्रेमिक प्रेमानन्दजी का मुखड़ा मेरे मानसपटल पर उभर आता। कारागार से जब बाहर निकला, तब मित्रों से उनके सम्बन्ध में पूछने पर अत्यन्त दुःख के साथ सुना कि वे इस धराधाम पर नहीं हैं।

सन् १९२० में मैंने मठ में प्रवेश लिया। तब भी देखा कि समग्र मठ बाबूराम महाराज के भाव से ओत-प्रोत हो अनुप्राणित है। यद्यपि महापुरुष महाराज तब मठाध्यक्ष थे, पर वे प्रत्येक कार्य के परिचालन के समय कहते, "देखो, तुम लोगों ने बाबूराम महाराज को जिस प्रकार करके दिखाया है और उनसे जिस प्रकार निर्देश पाया है, उसी प्रकार मठ के कार्यों को करते जाओ, मुझे इस विषय में और कुछ नहीं कहना है। उनका अपार्थिव प्रेम तुम सबको अनुप्राणित करे।" इसी बीच सुना था कि समग्र पूर्वबंगाल को अपने प्रेम में

डुबोकर उन्होंने अकाल में ही देह-त्याग कर दिया था। पूर्वबंगाल के प्रत्येक हिन्दू और प्रत्येक मुसलमान ने उन्हें अपने अपने धर्म का सच्चा प्रतिनिधि मान लिया था। उन्होंने उस अंचल से लौटते समय देखा था कि मुसलमान किसान लोग अपना अपना खेती का काम छोड़ उनकी पालकी के पास खड़े हो गये हैं और 'हाय, हमारा पीर चला जा रहा है,' 'हाय, हमारा पीर चला जा रहा है' इत्यादि कहकर जोर जोर से विलाप कर रहे हैं।

मठ में प्रवेश लेने के दो-तीन वर्ष बाद मुझे कार्यकर्ता के रूप में ढाका आश्रम भेजा गया। वहाँ आश्चर्यचकित हो देखा कि आश्रम का रसोईघर, जहाँ श्रीठाकुरजी के भोग इत्यादि की तैयारी होती थी, ढाका के पुराने नवाब अमानउल्ला की दुहिता, बीबी अखतर बानू द्वारा 'अमान स्मृतिमंजिल' के रूप में निर्मित हुआ था। यह देख मैं सचमुच अचरज से गड़ गया, क्योंकि इसके कुछ वर्ष पहले ही अखबार में पढ़ा था कि अखतर बानू के भाई, ढाका के तत्कालीन नवाब सलीम उल्ला साहब को हाथों का खिलौना बनाकर तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने इस अंचल के हिन्दुओं पर अकथनीय अत्याचार किया था। बाद में सुना कि स्वामी प्रेमानन्दजी के अपूर्व प्रेम की ही यह एक कीर्ति थी कि उन्होंने ढाका आकर हिन्दू-मुसलमान सबको अपने प्रेम से अनुप्राणित कर दिया था; यहाँ तक कि हिन्दुओं के लिए अगम्य ढाका के नवाब के

महलों में जाकर वहाँ के स्त्री-पुरुष सबको अपने दैवी प्रेम की कथा सुनायी थी।

इसके कुछ दिन बाद ही देखा कि आम, लीचू आदि से भरी एक बड़ी मोटरगाड़ी से (उन दिनों मोटरगाड़ी अत्यन्त दुर्लभ थी) एक मुसलमान सज्जन मठ के प्रांगण में उतरे और बोले, "ये आम, लीचू आदि बीबी साहिबा (अखतर बानू) के आदेश से उनके बगीचे से लाया हूँ; बगीचे के ये पके फल आपके यहाँ श्रीठाकुर की सेवा में निवेदन करने के लिए हैं।" समझा कि यह भी स्वामी प्रेमानन्द के प्रेम का और एक प्रमाण है।

इसके कुछ दिन बाद उनके प्रेम का एक और प्रमाण पाकर बडा ही चमत्कृत हुआ था और समझा था कि दैवी प्रेम क्या नहीं कर सकता। एक दिन हम कुछ मित्र मठ के बरामदे में बैठे हुए थे कि एक सज्जन आकर हम लोगों को नमस्कार करके बोले, "देखिए मैं आपके प्रेमानन्द स्वामी का शिष्य हूँ।" आश्चर्यान्वित हो हमने उनसे पूछा, "वे तो किसी को दीक्षा नहीं देते थे, फिर आप कैसे उनसे दीक्षा पा गये?" उत्तर में वे बोले, "आप लोग जिसे दीक्षा कहते हैं, वैसा वे नहीं देते थे यह सच है, किन्तु उनके वचनों से मेरे जीवन में दीक्षा का काम हुआ है और मैं उसी प्रकार अपने जीवन को परिचालित करने की चेष्टा कर रहा हूँ।" मुझे और भी अचरज में डालते

हुए उन्होंने अपना परिचय दिया कि वे मुसलमान हैं और नाम है मुहम्मद। वे वहाँ के एक स्थानीय जुबिली स्कूल में (जहाँ मुसलमान विद्यार्थी ही पढ़ते थे) शिक्षक थे। इससे भी अधिक आश्चर्य हमें तब हुआ, जब इसके कुछ दिन बाद आकर वे कहने लगे, "देखिए, स्वामीजी (विवेकानन्दजी) का उत्सव तो करीब है। उसमें तो जाति-धर्म का भेद-भाव न रखते हुए हजारों दरिद्र-नारायणों की सेवा होती है। मेरी विशेष इच्छा है कि अपने कुछ छात्र लेकर मैं आऊँ और आपके इस सेवाकार्य में कुछ सहायता करूँ।"

उनको उत्सव की एक जिम्मेदारी दी गयी। दूसरे दिन वे लड़कों को लेकर आये और उनके लिए जो कार्य निर्दिष्ट था, उसका भार ले उन्होंने बड़ी श्रद्धा के साथ अत्यन्त व्यवस्थित रूप से कार्य का परिचालन किया। कार्य समाप्त होने पर आनन्द-पूर्वक उन्होंने लड़कों के साथ प्रसाद ग्रहण किया और विदा ली।

ये स्वामी प्रेमानन्दजी के दैवी प्रेम के कुछ उदाहरण हैं, जिसका कणमात्र पाकर हमारा जीवन धन्य हो जाएगा। उनके प्रेम में जाति, धर्म अथवा देश-काल आदि का कोई व्यवधान नहीं था। जिसने भी उसका थोड़ासा अंश पाया, उसका जीवन धन्य हो गया। 'न तेषु जातिकुलभेदः' (नारदभक्तिसूत्र)।

●

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें :– सुरेन्द्रनाथ मित्र

स्वामी प्रभानन्द

एक दिन सुरेन्द्रनाथ मित्र ने अपने मित्र एवं पड़ोसी, रामचन्द्र दत्त और मनमोहन मित्र के पास अपने हृदय की परेशानियों और चिन्ताओं को व्यक्त किया। उन्होंने एक घटना का भी जिक्र किया। एक दिन दोपहर के भोजन के बाद वे अपनी बैठक में खड़े थे कि ऐसे में गेरुआ वस्त्र पहने हुए काले रंग की एक भैरवी (तांत्रिक सम्प्रदाय की साधिका), जिसके केश छिटके हुए थे और हाथ में एक त्रिशूल था, उनके घर के सामने से गुजरी। सुरेन्द्रनाथ की ओर देखते हुए उसने कहा, "ऐ मेरे बच्चे, सब कुछ शून्य है, एकमात्र वही सत्य है।" यद्यपि वे उसका मर्म न समझ सके, परन्तु उसने उन्हें गहराई से सोचने के लिए मजबूर कर दिया।[1] दोनों मित्रों ने बड़े सहानुभूति के साथ सुरेन्द्रनाथ को सुना, परन्तु वे उनकी चिन्ताओं का कारण न समझ पाये, न ही उन्हें कोई उपाय बता सके। परन्तु रामचन्द्र ने श्रीरामकृष्णदेव के पावन सत्संग के प्रभाव का स्मरण कर, जो उनके निज के जीवन में फलित हुआ था, सुझाव दिया, "दक्षिणेश्वर में एक परमहंस वास करते

---

१. रामचन्द्र दत्त : श्रीश्रीरामकृष्ण परमहंसेर जीवनवृत्तान्त (बंगाली), पृ. ११५।

हैं, क्यों नहीं आप उनके पास जाते ?"

मनमोहन ने न केवल रामचन्द्र के सुझाव का समर्थन किया, वरन् सुरेन्द्रनाथ को विश्वास दिलाने के लिए परमहंस के साथ घटे अपने निजी अनुभवों का भी वर्णन किया।

सुरेन्द्रनाथ जो अँगरेजी शिक्षा प्राप्त और एक अँगरेजी फर्म में महत्त्वपूर्ण पद पर आसीन थे, इस सुझाव पर हँस दिये। "आप लोग परमहंस को बहुत ऊँचा स्थान देते हैं, सो अच्छा है," वे बोले, "परन्तु भला मुझे क्यों उनके पास भेजना चाहते हैं?" उनके मित्र हताश नहीं हुए। सुरेन्द्रनाथ के सम्बन्ध में वे चिन्तित थे, इसलिए उन्होंने इस विषय को वहीं नहीं छोड़ दिया। वे आग्रह करते ही रहे। अन्त में सुरेन्द्रनाथ राजी हुए, पर कहने लगे, "हंसों के बीच में बगुले के समान रहूँगा! मैंने बहुत से ढोंगी देखे हैं। चलो, इनको भी देख लूँगा। परन्तु याद रखना, यदि ऊलजलूल कुछ बका उन्होंने, तो मैं उनके कान खींच लूँगा।"[२] श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में वे लोग इतने आश्वस्त थे कि उन्होंने अपने मित्र को चुनौती स्वीकार कर ली।

उस समय के अन्य दूसरे शिक्षित युवकों की भाँति सुरेन्द्रनाथ भी अपनी नास्तिकता का गर्व करते और आचार-विचार से मुक्त बोहेमियन जीवन बिताते।

---

२. भक्त मनमोहन (बंगाली), पृ. ७०।

उन्हें मद्यपान की भी लत थी। मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण अतिशयोक्तिपूर्ण था। तब सुरेन्द्रनाथ तीस वर्ष की आयु के गोरे रंग के स्वस्थ-सबल शरीरवाले युवक थे। उनका दानी के रूप मे नाम था।[3] यद्यपि दूसरों के साथ व्यवहार में वे कुछ कठोर थे, पर थे सरल, स्पष्टवादी और निश्छल।[४]

सन् १८८० साल के मध्य[५] के कुछ पहले ही

---

३. श्रीरामकृष्ण के कथन से तुलना करें-- "तुम एक व्यापारी की दुकान में काम कर रहे हो।... तुम आफिस में झूठ बोलते हो, फिर भी तुम्हारी चीजें क्यों खाता हूँ? तुम दान, ध्यान जो करते हो। तुम्हारी जो आमदनी है उससे अधिक दान करते हो। बारह हाथ ककड़ी का तेरह हाथ बीज! .. जो दान, ध्यान करता है वह बहुत फल प्राप्त करता है, चतुर्वर्ग फल।" (श्री म: श्रीरामकृष्णवचनामृत भाग ३, द्वितीय संस्करण, पृ. १०-११)

४. जब सुरेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण से मिले थे, उसके कुछ ही दिन बाद श्रीरामकृष्ण ने उनके बारे में कहा था, "अहा, सुरेन्द्र का स्वभाव बहुत ही अच्छा हो गया है। बड़ा स्पष्ट, वक्ता है, बोलते समय किसी से दबता नहीं। और देखा' मुक्तहस्त भी है। कोई उसके पास सहायता के लिए जाता है, तो उसे खाली हाथ नहीं लौटाता।" ('वचनामृत', भाग २, द्वितीय संस्करण, पृ. १४४)

५. मनमोहन मित्र ने 'मेरे जीवन की कहानी' नामक अपने अँगरेजी ग्रन्थ में लिखा है--"हम लोगों ने दक्षिणेश्वर जाना शुरू किया था कि उसके कुछ महीने बाद ही हमा

एक दिन सुरेन्द्रनाथ रामचन्द्र और मनमोहन के साथ दक्षिणेश्वर के लिए रवाना हुए।[६] श्रीरामकृष्णदेव के कमरे में प्रवेश करते ही उन्होंने देखा कि वे तखत पर विराजित हैं और कमरे की फर्श पर कुछ भक्त लोग बैठे हुए हैं। अपने मित्रों से सुनकर सुरेन्द्रनाथ ने अपने मन में परमहंस की जो कल्पना सँजोयी थी, वह श्रीरामकृष्ण से प्रथम मिलने से उपजी धारणा से सर्वथा भिन्न थी। तथापि यह सच है कि श्रीरामकृष्ण-देव का बाहरी रूप उन्हें प्रभावित न कर सका। बहुतेरे दूसरों की भाँति, सुरेन्द्रनाथ को भी पहले उनमें

निकट के सम्बन्धी, परम विश्वासी और स्पष्ट वक्ता सुरेन्द्र-नाथ मित्र और उनके अनुज गिरीन्द्रनाथ मित्र भी हमारे साथ मिल गये।" रामचन्द्र और मनमोहन श्रीरामकृष्ण से १३ नव-म्बर, १८७९ को मिले थे। सन् १८८१ के आरम्भ में श्रीरामकृष्ण का जन्मतिथि-महोत्सव प्रथम बार मनाने के पीछे सुरेन्द्रबाबू का ही प्रमुख हाथ था, उन्हीं ने सब व्यय वहन किया था। फिर 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' में भी श्रीराम-कृष्ण के सुरेन्द्रबाबू के यहाँ (जून-जुलाई) १८८१ में आगमन का उल्लेख है। इसलिए यह माना जा सकता है कि सुरेन्द्र-बाबू श्रीरामकृष्ण से १८८० के मध्य के लगभग मिले थे।

६. रामकृष्ण मिशन की ३० मई, १८९७ को हुई छठी बैठक की रिपोर्ट में छपे सुरेन्द्रनाथ के अनुज गिरीन्द्रनाथ मित्र के संस्मरणों के अनुसार सुरेन्द्रबाबू श्रीरामकृष्ण के पास सर्वप्रथम जनवरी-फरवरी १८८१ में श्री अमृतकृष्ण बसु के साथ गये थे।

कुछ भी असाधारण न लगा। उन्होंने श्रीरामकृष्ण को न तो प्रणाम किया और न नमस्कार करने की ही आवश्यकता समझी। चुपचाप वे कमरे के एक कोने में बैठ गये, जबकि रामचन्द्र और मनमोहन ने ठाकुर को दण्डवत् हो प्रणाम किया और फिर जगह ले बैठ गये। श्रीरामकृष्ण ने जैसा कि उनका स्वभाव था, पहले ही अभ्यागतों को करबद्ध हो नमस्कार किया।

श्रीरामकृष्ण ने अपनी गहरी आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से जान लिया था कि नवागन्तुक कौन है। वे पहचान गये कि सुरेन्द्रनाथ उनमें से हैं, जिन्हें जगन्माता ने उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रसददार के रूप में नियत किया है।[७] उन्हें अपने उस दर्शन की याद हो आयी होगी, जिसका वर्णन उन्होंने बाद की एक मुलाकात में किया था।[८]

सुरेन्द्रनाथ एक उड़ती दृष्टि से परमहंसदेव को परखने की चेष्टा कर रहे थे। परन्तु इससे पहले कि

---

७. स्वामी सारदानन्द : श्रीरामकृष्णलीलाप्रसग भाग २, पृष्ठ ४६९ : "सुरेन्द्रनाथ मित्र को 'आधा रसददार'.. कहा करते थे।"

८. श्रीरामकृष्ण (सुरेन्द्र से)—"तुम्हारे योग भी है और भोग भी है। .. देवीभक्त धर्म और मोक्ष दोनों पाता है तथा अर्थ और काम का भी भोग करता है। तुम्हें एक दिन मैंने देवी-पुत्र के रूप में देखा था। तुम्हारे दोनों हैं, योग और भोग। नहीं तो तुम्हारा चेहरा सूखा हुआ होता।"

('वचनामृत', प्रथम भाग, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ६०२)

वे एक निश्चित धारणा बना पाते, उनका ध्यान श्रीरामकृष्ण की मधुर आवाज की ओर खिंच गया। नवागन्तुक की ओर ऊपरी तौर से कोई ध्यान न देते हुए श्रीरामकृष्ण ने अपना उपदेश जारी रखा। उन्होंने कहा--"अच्छा, मनुष्य भला बिल्ली का बच्चा होने की अपेक्षा बन्दर का बच्चा होना क्यों चुनता है ? बन्दर के छौने को बड़े प्रयास से अपनी माँ से चिपटे रहना पड़ता है, जब बन्दरिया यहाँ वहाँ कूदती फाँदती रहती है। परन्तु बिल्ली के बच्चे का स्वभाव भिन्न होता है। बच्चा स्वयं हो अपनी माँ से नहीं चिपट सकता। जमीन पर पड़े पड़े सिर्फ 'म्याऊँ, म्याऊँ' चिल्लाता रहता है। वह पूरी तरह से अपनी माँ पर आश्रित रहता है। बिल्ली उसे कभी गद्दे पर रखती है, तो कभी छत पर बैठाती है और कभी लकड़ियों के ढेर में छुपा देती है। वह अपने बच्चे को अपने मुँह में दबाकर इधर उधर ले जाती है। बन्दर के छौने से कभी कभी पकड़ छूट जाती है और जमीन पर गिरकर वह घायल हो जाता है। परन्तु बिल्ली के बच्चे को ऐसा कोई भय नहीं रहता, क्योंकि उसकी माँ उसे सुरक्षित ले जाती है। यहीं पुरुषार्थ और ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण में अन्तर है।"

श्रीरामकृष्ण के शब्दों ने सुरेन्द्रबाबू के अन्तस्तल को छू लिया। उन्हें ऐसा लगा कि वे शब्द मानो उन्हीं के लिए कहे गये हैं। उनके भीतर

विचार उठने लगे 'मैं भी तो बन्दर के छौने की भाँति व्यवहार करता हूँ। इच्छाशक्ति पर भरोसा कर मैं अपने स्व-प्रयास से सब काम सिद्ध कर लेना चाहता हूँ, और उसका फल यह होता है कि मुझे बड़ा भुगतना पड़ता है। क्यों नहीं मैं उस बिल्ली के बच्चे की भाँति जो सर्वथा अपनी माँ पर आश्रित रहता है, अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देता ?'

श्रीरामकृष्ण के शब्द हृदयस्पर्शी थे। सुरेन्द्र-नाथ ने ऐसा पहले कभी नहीं सुना था। वे एक बुभुक्षु की नाईं आतुर हो उस आध्यात्मिक भोज में सम्मिलित हो गये, जो श्रीरामकृष्ण ने उनके सामने परोस दिया था।

थोड़ा रुककर श्रीरामकृष्ण फिर कहने लगे—'जब माँ अपने बच्चे का हाथ पकड़ लेती है, तब गिरने का भय नहीं रहता। एक छोटा बच्चा अपने पिता के साथ वर्षा के दिन में खेत की फिसलन भरी मेड़ पर से जा रहा है। अब यदि बच्चा अपने पिता की अँगुली पकड़कर चलता है, तो फिसलकर गिर सकता है। परन्तु यदि पिता ने उसका हाथ पकड़ा हो, तो गिरने का कोई भय नहीं। इसी प्रकार यदि कोई पूर्णरूपेण जगन्माता पर आश्रित हो जाय, तब कोई भय नहीं रह जाता उसके लिए कोई समस्या ही नहीं रह जाती।'[१]

१. गुरुदास बर्मन : श्रीश्रीरामकृष्णचरित (बंगला) पृ १८८।

सुरेन्द्रनाथ ने राहत की साँस ली। उनके मन से दुश्चिन्ताओं का भार उसी प्रकार हट गया, जैसे आकाश में छाये मेघ पवन द्वारा उड़ जाते हैं। उन्होंने निर्णय किया, "क्यों नहीं? मैं भी पूर्णरूपेण जगन्माता पर आश्रित होऊँगा और बीच बीच में 'माँ,माँ' कहकर पुकारूँगा। बाकी सब वह सँभालेगी।"

लम्बे उपदेश के बाद श्रीरामकृष्ण ने अपने भतीजे रामलाल को जगन्माता का प्रसाद भक्तों के बीच वितरित करने का आदेश दिया। उसने उनके आदेश का पालन किया।

अब बिदा का समय आया। सुरेन्द्रनाथ अब एक बदले हुए व्यक्ति थे। उन्होंने अपना माथा जमीन पर टेककर श्रीरामकृष्ण को प्रणाम किया। और तब श्रीरामकृष्ण ने समापन करते हुए मधुर तथा स्नेहभरी आवाज में कहा, "फिर आना, क्यों आओगे न?" वे अब श्रीरामकृष्ण को कभी भूल नहीं सकते थे, चाहे कितनी भी इसके लिए वे कोशिश करते। वास्तव में वे उस दैवी प्रेम के जाल में फँस गये थे,[१०] जिसके कि श्रीरामकृष्ण एक चतुर मछुआरे थे।

---

१०. श्रीरामकृष्ण स्नेह से उन्हें 'सुरेन्दर' और कभी कभी 'सुरेश' कहते। स्वामी सारदानन्द ने उनका 'श्रीरामकृष्ण के परम भक्त' कहकर वर्णन किया है। (श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसग, भाग ३, पृ.२७६)

मुलाकात के बाद लौटते समय सुरेन्द्रनाथ ने हँसते हँसते स्वीकार करते हुए कहा, "आह! कैसे उन्होंने पूरा पासा पलट दिया! कहाँ मैं उनके कान ऐंठने के लिए आया था; और अब मैं देखता हूँ कि मेरे ही कान उन्होंने ऐंठ लिये हैं।" घटनाचक्र का सुन्दर परिणाम निकल आने से प्रसन्न हो उनके मित्र भी उनकी इस परिहासभरी उक्ति को सुनकर ठहाका मारकर हँस पड़े। "भला मैं कैसे अन्दाज लगा सकता था कि वे इतने महान् व्यक्ति होंगे?" सुरेन्द्रनाथ ने गम्भीर होते हुए कहा, "मैं कैसे सोच सकता था कि वे दूसरे के मन को पढ़ लेंगे?" उत्तर में मनमोहन और रामचन्द्र ने भी अपने साथ घटे इसी प्रकार के अनुभवों को बतलाया। सुरेन्द्रनाथ ने तब अपने मित्रों के पास अपनी मनोदशा का उद्घाटन करते हुए कहा कि इस संसार से वे इतने ऊब गये थे कि आत्मघात करने का विचार करने लगे थे। हताशा का शिकार हो वे कभी कभी बहुत कष्ट पाते थे। जो हो, इस पहली मुलाकात के बाद से उनमें काफी परिवर्तन दिखने लगा। यहाँ तक कि उनकी वे खास बोहेमियन आदतें और मद्यपान की गहरी लत भी धीरे धीरे कम हो गयीं। उनका संवेदनशील उदात्त स्वभाव सहज ही अध्यात्म की ओर झुक गया। वे अत्यन्त करुणाविगलित स्वर में छोटे बच्चे की तरह जगन्माता के लिए रोते,[११] और उसी

११. सुरेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण को जगन्माता के रूप में

के सम्बन्ध में बातें करना चाहते। वे प्रायः माँ के गहरे ध्यान में निमग्न हो जाते।

सुरेन्द्र ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने श्रीरामकृष्णदेव के सर्वधर्मसमन्वय के सन्देश को एक तैल-चित्र के माध्यम से चित्रित करवाया था। चित्र में दर्शाया गया था कि श्रीरामकृष्णदेव श्रीयुत केशवचन्द्र सेन को दिखाते हुए बतला रहे हैं कि विभिन्न धर्मावलम्बी अलग अलग रास्तों से उसी एक लक्ष्य को पहुँचते हैं। श्रीरामकृष्ण ने इस चित्र की प्रशंसा की थी। उन्होंने कहा था, "हाँ, वह एक विशेष ढंग का है; उसके भीतर सब कुछ है—– वह आधुनिक भाव का चित्र है।"[१२]

•

देखते थे। एक बार उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव से कहा, "आज एक तो पहला वैशाख है, दूसरे, मंगल का दिन; कालीघाट जाना नहीं हुआ। मैंने सोचा, काली का चिन्तन करके स्वयं ही जो काली बन गये हैं, अब चलकर उन्हीं के दर्शन करूँ; इसी से हो जाएगा।" श्रीरामकृष्ण मुस्करा उठे।... "कल संक्रान्ति थी, मैं यहाँ तो नहीं आ सका, परन्तु घर में आपके चित्र को फूलों से खूब सजाया।" श्रीरामकृष्ण सुरेन्द्र की भक्ति की बात मणि को संकेत करके सूचित करने लगे। ('वचनामृत', तृतीय भाग, द्वितीय संस्करण, पृ. ४७४-७५)

१२. वही, पृष्ठ २२५।

स्वामी अखण्डानन्द के चरणों में (१)

"एक भक्त"

(स्वामी अखण्डानन्द श्रीरामकृष्ण के संन्यासी-शिष्यों में सबसे छोटे थे और भक्तों में 'बाबा' के नाम से परिचित थे। उनके संस्मरणों और उपदेशों के लेखक 'एक भक्त' उन्हीं के एक शिष्य और रामकृष्ण-संघ के संन्यासी हैं। ये संस्मरण बँगला में 'स्वामी अखण्डानन्देर स्मृतिसंचय' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत लेख वहीं से गृहीत हुआ है। ——स.)

दुर्गापूजा के कुछ दिन अपनी माता के पास बिताकर त्रयोदशी की शाम को जब सारगाछी लौटा, तो बाबा बोल उठे, "मैं जानता था आज तू ठीक आ जायगा।" दूसरे दिन सबेरे बोले, "मुझे अब क्या अच्छा लगता है जानता है——कोई पहाड़ हो या जंगल हो, एकान्त में कहीं पर नदी के किनारे एक छोटी-सी कुटिया बनाकर रहूँ, जहाँ मुझे कोई खोजकर भी न पा सके। वे लोग क्या कहते हैं, जानता है?——कहते हैं सारगाछी में क्या कम एकान्त है? आप जहाँ भी जायँ, हम आपको खोज ही लेंगे। अब और क्या चाहता हूँ, जानता है?——उस निर्जन में साथ में दो-चार लड़के हों, जो मन लगाकर सब बातें सुनें, खूब प्रेम से सेवा करें, प्रतिवाद न करें, स्मृति-कथा, यात्रा-कथा सब लिखाऊँगा। जो लोग मेरी प्रेम से सेवा करते हैं, उनके पास मैं छोटे-से बालक के समान हो जाता हूँ, मुझे लेकर वे फिर जैसी इच्छा उठा-बैठा सकते हैं, मैं उन्हीं

का हो जाता हूँ। (अपने आप गुनगुनाने लगे) 'दरदी बिनु प्राण बचे ना।' ठाकुर हम लोगों का हाथ पकड़कर यही सब गाने गाते थे।"

बाद में एक समय स्मृतिकथा की पाण्डुलिपियों का क्रम गड़बड़ा गया—किसके पश्चात् कौन-सा लिखा गया है यह समझ में नहीं आ रहा था। बाबा को यह बतलाने पर वे कह उठे, "क्रम बिगड़ गया, गड़बड़ा गया——गया ही तो। यही देख न ——हाड़-मांस-मेद-मज्जा यह सब मिलकर गड़बड़ाने से ही तो यह शरीर बना है। जो लोग ब्रह्मज्ञान को आदर्श बनाकर आये हैं, उन्हें तो इसी के भीतर से क्रम ढूंढ़ निकाल लेना होगा। यह क्या सरल बात है?"

एक दिन शाम को बाबा ने अवतार-चरित्र, ज्ञान-भक्ति, माया-मुक्ति के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें बतलायीं। जो ठीक ठीक याद था, वह उसी रोज रात में संक्षेप में लिपिबद्ध हो गया था। नीचे वही दिया जा रहा है।

"अवतार-पुरुष के कई लक्षण हैं। उनको शोक, मोह, भ्रम——यह सब नहीं होगा। सर्वदा आदर्श जीवन होगा। कृष्ण पूर्णब्रह्म क्यों थे? उनको कभी शोक-मोह-भ्रम नहीं हुआ।

"समुद्र में जल-क्रीड़ा हो रही है—सब मत्त हैं, रुक्मिणी-बलराम सब। खेल होते होते अन्त में मार-पीट और हो-हल्ला होने लगा। कृष्ण ने देखा——अब

लगता है कि यदुवंश का नाश हो जायगा। वे जल से बाहर निकल आये और किनारे के छोटे पहाड़ की चोटी पर जाकर अपना पीताम्बर फहराने लगे। देखो, वे सदा सचेत हैं। इधर बलराम कृष्ण का अभाव अनुभव करते हैं। कृष्ण कहाँ! कृष्ण तो नहीं हैं। इसलिए खेल अब अच्छा नहीं लग रहा है। वे भी बाहर आ गये। उसके पश्चात् एक एक करके सब बाहर आ गये। यहाँ पर एक मज की बात है। जल-क्रीड़ा के बाद खाने की प्रचुर व्यवस्था है---नाना प्रकार के मद्य और मांस हैं।

"फिर देखो, कृष्ण एक आदर्श संसारी हैं। संसारियों का एक प्रधान कर्तव्य है---अतिथि-सत्कार, अतिथि जब जैसा चाहेगा उसकी इच्छा पूर्ण करनी होगी, नारायण जानकर उसकी सेवा करनी होगी। दुर्वासा आये हैं कृष्ण की परीक्षा करने, देखने कि वे किस प्रकार संसार-धर्म करते हैं! दुर्वासा के नाम से ही सब चिढ़ते हैं, किन्तु नहीं जानते कि उनके शाप से जन्म-जन्मान्तर के पाप कट जाते हैं। इसका नाम है कोपरूपी कृपा। दुर्वासा आकर कृष्ण से कहते हैं, 'किस प्रकार से सेवा करोगे?' कृष्ण हँसते हँसते कहने लगे, 'प्रभु जिस प्रकार चाहें, दास प्रस्तुत है।' दुर्वासा बोले, 'सस्त्रीको धर्ममाचरेत्---तुम दोनों आज मेरी सेवा करोगे---जल खींचकर स्नान कराओगे, चूल्हा जलाकर भोजन बनाकर खिलाओगे। उसके बाद

जो जो कहूँगा, सब करोगे।' कृष्ण और रुक्मिणी एक एक करके सब करते हैं। भोजन के लिए बैठने पर रुक्मिणी पंखा झलती हैं। भोजन के बाद मुनि कहते हैं, 'पैर दबाओ।' विश्राम के उपरान्त कहते हैं, 'चलो, गाड़ी करके घुमाने ले चलो।' गाड़ी आयी। बोले, 'घोड़ा नहीं चाहिए, तुम दोनों जन खींचो।' दोनों ने तब भोजन नहीं किया था, क्योंकि अतिथि अब तक अतृप्त जो हैं। सब लोग खूब चिढ़ गये, किन्तु कृष्ण तो निर्विकार हैं, अधरों पर मुस्कराहट है। घोड़ खोल दिये गये और उनकी जगह दोनों शहर के बीच से गाड़ी खींचते चले, हाथ-पैर से रक्त बहने लगा। दुर्वासा अपने को और अधिक नहीं रोक सके, गाड़ी से उतरकर चरणों में पड़ गये, बोले, 'प्रभु, समझा——किसलिए आप इतना कर रहे हैं।' यही हुआ अवतार-जीवन——जगत् को आदर्श दिखाना !

"राम का भ्रम——बालि-वध, शोक-मोह——सीता-विलाप। इसलिए ठाकुर कहते थे, 'राम बारह आने।' किन्तु कृष्ण सोलह आने——खन् खन् बजते हैं ——चाहे जहाँ बजा लो। अवतार-जीवन का एक मजा है। जब-तब जहाँ-तहाँ अवतार नहीं आते। जहाँ बहुत दिन तक बहुत-से लोग दुःख-कष्ट से जर्जरित हो रात-दिन भगवान् को पुकारते हैं, आकुल प्राणों से प्रार्थना करते हैं, 'प्रभु, और ऐसा नहीं करूँगा, ज्वाला-यंत्रणा दूर करो, दर्शन दो' और ऐसा कह समस्त

कर्मफल उनके चरणों में समर्पित करते हैं, अथवा धर्म-ग्लानि देखकर साधक जन दिनरात उनको पुकारते हैं —'प्रभु, आओ, धर्मस्थापन करने !' तब समय पाकर जीव के संचित और समर्पित कर्मफल के भोग के लिए एवं धर्मस्थापन करने के लिए वे आते हैं। जीव-उद्धार अन्य कुछ नहीं—वह है आत्मज्ञान देना, संसार-माया के बन्धन काट देना, जन्म-मृत्यु के चक्कर से छुटकारा दे देना।

"जीव के कर्मफल उनको भोगने पड़ते हैं, इसी-लिए तो अवतार-जीवन में आरम्भ से लेकर अन्त तक इतने दुःख-कष्टों का भोग रहता है, अन्यथा उनका स्वयं का तो कोई कर्म अथवा कर्मफल नहीं। फिर, अवतार-पुरुष से जो प्रेम करने का साहस करेंगे, उनको भी इस प्रकार का कुछ कर्मफल भोगना होगा। प्रेम करने से दुःख-कष्ट का भार भी लेना होगा, इस प्रकार जितनी दूर जाय, उसके बाद पहले के समान।

"स्त्रियाँ ही ज्यादा भक्तिमती होती हैं, उनमें खूब निष्ठा और विश्वास होता है।

"कमला नेहरू जवाहरलाल से छुपा-छुपाकर जप करती, रोती। दादा (महापुरुष महाराज स्वामी शिवानन्द) की बीमारी के समय उसे देखा, कठिन रोग से पीड़ित थी, किन्तु मुख पर कैसी हँसी थी। कहती थी—'बड़ा दुःख है, रो भी नहीं सकती।' मैं बोला, 'ठाकुर-घर में जाओ, ठाकुर आशा पूरी

करेंगे।' वापस जाते समय फिर से प्रणाम करके गयी --देखा दोनों आँखें जवाफूल-सी हो गयी हैं।"

कथा-प्रसंग में बाबा एक दिन कहने लगे, "नफर कुण्डु की स्मृतिसभा में शरत् महाराज के साथ गया था। अन्त में कुछ बोलना पड़ा। सब लोग दृष्टान्त दे रहे थे--सर फिलिप सिडनी इत्यादि का। ये लोग अवश्य खूब बड़े हैं, किन्तु मुझे कैसा कैसा लग रहा था। क्यों, क्या हमारे देश में आत्मत्यागी महापुरुष नहीं हैं? मैंने दधीचि की कथा कही। यह तुच्छ हाड़-मांस का पिण्ड--यह तो मरेगा ही, यह तो सियार, कुत्तों का भोजन है।* इसके द्वारा यदि किसी का कोई उपकार हो सकता हो तो हो न। देवता भी मनुष्य के त्याग की अपेक्षा रखते हैं।

"लेक्चर सुनकर शरत् महाराज बोले, 'भाई, तुम्हारा और मुर्शिदाबाद जाना नहीं होगा। यहीं पर तुमसे हमारे अनेक कार्य होंगे।' अन्त में भागकर चला आया।

"'परोपकार' क्यों कहते हो? कौन पर है? सभी तो अपने हैं। भागवत में है सिर्फ 'उपकार'।

---

* श्रीमद्भागवत में (६।१०।९-१०) दधीचि की उक्ति है--

एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः।
यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति ॥
अहो दैन्यमहो कष्टं पारक्यैः क्षणभंगुरैः।
यन्नोपकुर्यादस्वार्थैर्मर्त्यः स्वज्ञातिविग्रहैः ॥

'परहितव्रत' क्यों ? कहो—लोकहितव्रत ।"

इसी समय उन्हें याद आ गया—'स्मृतिकथा' में एक स्थान पर लिखा है 'परदु:खकातर', इसलिए बोले, '"परदु:खकातर' काट दो, लिखो 'लोकदु:खकातर'। पर-उपकार में किसका उपकार ?—पढ़ा नहीं ?—मेरा स्वयं का। यही तो स्वामीजी का कर्मयोग—उनका सेवा-धर्म है। युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ में 'नेवले और सत्तू की कथा' के द्वारा प्रमाणित किया गया है कि त्याग और सेवा ही श्रेष्ठ धर्म है। निज के स्वार्थ का त्याग और आत्म-बुद्धि से सबकी सेवा, दया नहीं। यही कर्मयोग है—इसी का नाम सेवा-धर्म है। जो उपाय है, वही उद्देश्य भी है। सेवा से चित्तशुद्धि, सेवा से हृदय का विस्तार, सेवा से सर्वभूतों में आत्मदर्शन।

"आत्मज्ञान होने पर विश्वप्रेम होगा। आजकल सब जगह विश्वप्रेम की चर्चा है। ठाकुर कहते थे, 'प्रेम नहीं है, प्याम् है।' आत्मज्ञान के बाद विश्वप्रेम। तब स्वामीजी का यह कथन समझ में आता है—

ब्रह्म और परमाणु-कीट तक, सब भूतों का है आधार
एक प्रेममय, प्रिय, इन सबके चरणों में दो तन-मन वार।
बहु रूपों से खड़े तुम्हारे आगे, और कहाँ है ईश ?
व्यर्थ खोज। यह जीव-प्रेम की ही सेवा पाते जगदीश।*

—जीव-सेवा ही शिव-सेवा है। जीव और है क्या ? सभी तो शिव हैं।"

---

* विवेकानन्द साहित्य, नवम खण्ड, प्रथम संस्करण पृष्ठ ३२५

राष्ट्र-गठन और धर्म

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष हैं। अप्रैल १९७८ में उन्होंने श्रीरामकृष्ण आश्रम, बँगलौर में जो अँगरेजी में भाषण दिया था, प्रस्तुत लेख उसी का रूपान्तरण है।--स०)

स्वामी विवेकानन्द ने १८९७ ई. में अमेरिका से लौटकर भारत और श्रीलंका में जो भाषण दिये थे (जो 'भारत में विवेकानन्द' के नाम से प्रकाशित हैं), उन्हें यदि आप पढ़ें, तो आप देखेंगे कि उन्होंने प्रायः उन सभी भाषणों में एक बात बिलकुल स्पष्ट कर दी है, और वह है इस राष्ट्र के आदर्श के सम्बन्ध में। उन्होंने बहुधा यह बात कही है कि धर्म और मोक्ष ही इस राष्ट्र का आदर्श है, वही इस राष्ट्र की शक्ति है। प्रत्येक राष्ट्र का अपना एक आदर्श होता है, और भारत ने बहुत पहले--लगभग तीन या चार हजार साल पहले --अपने लिए मोक्ष के इस धर्मरूप आदर्श का चुनाव कर लिया। अतएव, स्वामीजी कहते हैं कि यदि हम धर्म के इस आदर्श को छोड़ देंगे, तो यह राष्ट्र नहीं बचेगा। अब हमारे लिए यह सम्भव नहीं कि इस आदर्श को छोड़ दें और पश्चिम में प्रचलित किसी नये आदर्श को पकड़ लें। यह सम्भव नहीं कि हिमालय से बहनेवाली गंगा का प्रवाह बदल दें और उसे एक नयी दिशा में बहा दें। इसी प्रकार,

हम सही रहे हों या गलत, जब हमने एक बार बहुत पहले इस आदर्श का चुनाव कर लिया, तो अब यह सम्भव नहीं कि हम उसे छोड़ कोई नया आदर्श ग्रहण करें, क्योंकि ऐसा करना सांस्कृतिक आत्मघात होगा। फिर, स्वामीजी कहते हैं, यह कोई गलत आदर्श नहीं है, यह तो एक ऐसा महान आदर्श है, जिसने इन तीन-चार हजार वर्षों तक बचे रहने में हमारी सहायता की है। जबकि दूसरे राष्ट्र दूसरे आदर्शों को लेकर अल्पकाल के लिए बड़ी प्राणवत्ता के साथ जीते रहे और फिर दुनिया की तसवीर से मिट गये, हमारा यह भारत अपने इस महान् धर्मरूप आदर्श के कारण अभी भी जीवित है। इसलिए स्वामीजी इस बात पर बल देते हैं कि यदि भारत को पुनरुज्जीवित होकर एक महान् राष्ट्र बनना है, तो धर्म के क्षेत्र में व्यापक पैमाने पर पुनर्जागरण अपेक्षित है।

जब स्वामीजी विश्वधर्मपरिषद् में हिन्दूधर्म का प्रतिनिधित्व करने के लिए अमेरिका गये, तो उनका जोरों से स्वागत किया गया और परिषद् में उनकी बातों को बड़े ध्यानपूर्वक सुना गया। बाद में भी उनका सभी जगह सत्कार किया गया, उनके द्वारा प्रदत्त सन्देश को बड़ी उत्सुकतापूर्वक ग्रहण किया गया और समाचार-पत्रों में उनके सम्बन्ध में कई बातें प्रकाशित की गयीं, जिनको भारत में भी

फिर से मुद्रित किया गया। पश्चिम में स्वामीजी के प्राकटय के सम्बन्ध में महापण्डित श्री अरविन्द कहते हैं, "विवेकानन्द, जिन्हें गुरुदेव (श्रीरामकृष्ण) ने उस वीर पुरुष के रूप में चिह्नित किया था जो संसार को अपने दोनों हाथों के बीच लेकर बदलने के लिए पैदा हुए थे, का वहाँ जाना विश्व के समक्ष इस सत्य की प्रथम स्पष्ट सूचना थी कि भारत यह जो जागा है, वह केवल बचे रहने के लिए नहीं बल्कि अपने प्रेम, सद्भाव और शान्ति के सन्देश के द्वारा संसार को जीतने के लिए।" यह विजय अणुबम अथवा सैन्यशक्ति के बल पर नहीं प्राप्त करनी है, अपितु विश्व के सभी राष्ट्रों के समक्ष धर्म के महान् आदर्शों का——त्याग और प्रेम, शान्ति और सद्भाव का——प्रचार करके यह जीत हासिल करनी है। स्वामीजी ने कहा कि पहले भी, जब भी प्रयोजन उपस्थित हुआ, भारत ने यह भेंट संसार को दी थी। जब भी विश्व को आवश्यकता हुई, भारत अपने इस धर्म के अमृतरूप आदर्शों को दूसरे देशों को ले गया। और यह कोई विजय प्राप्त करने की इच्छा से नहीं किया गया, बल्कि करुणा से प्रेरित होकर, जैसे दिखायी न देते हुए गिरनेवाले ओसकण सुन्दरतम पुष्पों को चुपचाप खिला देते हैं। दूसरे बड़े राष्ट्रों ने अपने आदर्शों का प्रसार खून की नदियाँ बहाते हुए सैन्यशक्ति के बल पर किया। किन्तु भारत ने न तो

किसी देश को विजित किया और न ही किसी देश के विरुद्ध सैन्यशक्ति का प्रयोग। उसकी जीत तो सांस्कृतिक रही—सद्भाव, प्रेम और शान्ति के द्वारा प्राप्त होनेवाली विजय रही। जिस महान् धार्मिक आदर्श का भारत ने पोषण और दूसरे देशों में प्रचार किया, उसने विश्व को कई बार अधर्म या जड़-वाद से बचाया है। और आज वह पुनः यही कर रहा है। पश्चिम की जड़वादी सभ्यता आज कमोबेश लड़खड़ा रही है और बड़े बड़ टेके दिये जाने के बावजूद वह खड़े रहने में असमर्थता का अनुभव कर रही है। आज उसे जिसकी आवश्यकता है, वह है एक नया धार्मिक सन्देश, जो उसमें एक नयी जीवनी-शक्ति का संचार करेगा। और यह सन्देश फिर से भारत से ही जाना है।

जब विश्वधर्मपरिषद् में स्वामीजी को मिली सफलता का समाचार भारत में पहुँचा, तो यह देश जो लगभग हजार वर्ष से सो रहा था, अपनी नींद से एकाएक जाग उठा और उसने पाया कि उसे हरदम भिखारी बनकर नहीं रहना है, सदैव लेते ही नहीं रहना है, अपितु उसे संसार को ऐसा कुछ देना है, जो संसार के जीवित बचे रहने के लिए सबसे अनि-वार्य है। पश्चिम के बड़े बड़े विद्वानों ने यह विचार प्रकट किया है कि यदि संसार को बने रहना है, तो उसे भारतीय आदर्श अथवा भारतीय जीवन-पद्धति के

समान कुछ अपनाना होगा। हम प्रायः सभी आधुनिक लेखों में भारतीय आदर्शों का, और विशेषकर श्रीरामकृष्ण का, उल्लेख पाते हैं। यह प्रदर्शित करता है कि भारत का प्रथम जागरण धर्म के क्षेत्र में हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि इससे पूर्व भी बंगाल, पंजाब, बम्बई और अन्य स्थानों में धार्मिक आन्दोलन हुए थे, पर वे सभी स्थानीय किस्म के थे और उनका विस्तार राष्ट्रीय स्तर पर नहीं हो पाया था। स्वामीजी को पश्चिम में मिली सफलता ने सारे राष्ट्र को जगा दिया और धर्म के क्षेत्र में एक महान् हलचल का सूत्रपात हुआ। यद्यपि यह हलचल धार्मिक क्षेत्र में थी, पर उस समय के हमारे ब्रिटिश शासक इस महान् जागरण को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे; क्योंकि राष्ट्र जब किसी एक क्षेत्र में जागता है, तो अन्य क्षेत्रों में भी उसका जागरण सम्भावित होता है। उन्हें डर लगा कि यह धर्म के क्षेत्र का जागरण कहीं लोगों को राजनीति के क्षेत्र में भी न जगा दे और वे कहीं राजनैतिक मुक्ति पाने की चेष्टा न करने लगें, जैसा कि वास्तव में हुआ भी। यद्यपि ब्रिटिश शासन और उनके पक्षधर समाचार-पत्रों ने स्वामीजी की आलोचना की तथा हिन्दूधर्म को नीचा दिखाने का प्रयास किया, पर वास्तव में वे कुछ कर नहीं सके। भारतीयों में भी ऐसे कुछ लोग थे, जिन्होंने स्वामीजी की निन्दा की, पर राष्ट्र का जागरण रोका नहीं जा

सका। भारत में सर्वत्र धार्मिक बैठकों का समायोजन किया गया और धार्मिक समितियाँ गठित की गयीं। सारा देश धार्मिक तेजस्विता से दीप्त हो उठा। और इस तेजस्विता से राजनैतिक आन्दोलन का-- स्वाधीनता के लिए राष्ट्रीय संग्राम का सूत्रपात हुआ। काँग्रेस का जन्म हुआ और अन्त में हमें राजनैतिक स्वातंत्र्य प्राप्त हुआ।

पर अभी एक क्षेत्र ऐसा भी है, जहाँ हमें स्वतंत्रता मिलनी है, और वह है आर्थिक। अभी भी जनसाधारण का बहुत बड़ा भाग आर्थिक दृष्टि से दबा हुआ है और उसे आर्थिक स्वातंत्र्य प्राप्त होना है। आज हम सारे देश में आर्थिक मुक्ति के लिए किये जानेवाले इस संघर्ष को कार्यरत देखते हैं। प्राचीन भारत में लोगों ने राजनैतिक और सामाजिक जीवन का ढाँचा तथा शिक्षा आदि सब कुछ धर्म के आधार पर खड़ा किया। हमारे अपने राजनैतिक सिद्धान्त थे, अपनी आर्थिक नीतियाँ थीं और अपने सामाजिक नियम-कानून थे। परन्तु वह सभी कुछ मोक्ष के महान् आदर्श से नियंत्रित था। हमारा समाज तदनुरूप गठित हुआ था। यदि हम मनु, याज्ञवल्क्य और अन्य लोगों द्वारा लिखी स्मृतियों को पढ़ें, तो देखेंगे कि उनमें 'अधिकार' शब्द कहीं दिखायी नहीं देता। इन ग्रन्थों में सर्वत्र 'कर्तव्य' का ही उल्लेख मिलता है, 'अधिकार' का नहीं। किन्तु हमारा वर्तमान

संविधान मौलिक अधिकारों की बात करता है। इन मौलिक अधिकारों ने हमें अत्यन्त स्वार्थपर बना दिया है। हम सर्वदा अपने अधिकारों का दावा करते रहते हैं, पर दूसरों के अधिकारों की ओर दृष्टिपात नहीं करते, जो कि हमारा कर्तव्य है। देखिए, मनुष्य के मौलिक अधिकार की यह जो बात है, वह कमोबेश एक पश्चिम से आयातित विचार है। भारत में तो सदैव कर्तव्य, सेवा की बात रही। उदाहरण के लिए चार आश्रमों की प्राचीन प्रथा को ले लें--ब्रह्मचर्य-आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ-आश्रम और संन्यास-आश्रम। प्रथम तीन आश्रमों की व्यवस्था इस प्रकार की गयी थी कि मनुष्य उनमें से होता हुआ धीरे धीरे अन्तिम स्थिति--संन्यास-आश्रम द्वारा निर्दिष्ट पूर्ण त्याग की अवस्था--की ओर जा सकता था और इस प्रकार अज्ञान और दुःख-कष्ट से नितान्त मुक्ति-रूप जीवन के उस महान् लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता था। सारी जीवन-प्रणाली तब शास्त्रसम्मत आदर्शों द्वारा नियमित और नियंत्रित थी।

विद्यार्थियों को संसार के कोलाहल से दूर तपोवनों में जाकर गुरुकुल में आचार्यों के साथ रहना पड़ता था। उन्हें कठोर नैतिक जीवन यापित करना पड़ता, कतिपय आध्यात्मिक साधनाओं का अभ्यास और ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता तथा श्रद्धापूर्वक गुरु की सेवा करनी पड़ती। उन्हें 'श्रद्धा' नामक गुण

का अर्जन करना पड़ता, जिससे गुरु ने जो कुछ सिखाया है, उसे वे लोग ठीक ढंग से ग्रहण कर सकें। इस प्रकार विद्यार्थी-जीवन एक अत्यन्त कठोरता का जीवन था—आजकल के समान नहीं, जहाँ लड़के सर्वत्र दल बनाकर नारे लगाते और तोड़-फोड़ करते घूमते रहते हैं। आखिर वे हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति को ही तो नष्ट करते हैं। हानि किसकी होती है? राष्ट्र का ही नुकसान होता है। यह वे नहीं समझ पाते। वे समझते हैं कि वे सरकारी सम्पत्ति का नुकसान करते हैं। पर सरकारी सम्पत्ति भी तो आखिर राष्ट्रीय सम्पत्ति है, और जब वह नष्ट होती है तो राष्ट्र उतनी मात्रा में अपनी सम्पत्ति से हाथ धो बैठता है। प्राचीन दिनों में यह सब सम्भव नहीं था, क्योंकि तब विद्यार्थी-जीवन कतिपय कर्तव्यों के द्वारा परिचालित होता था, अधिकारों के द्वारा नहीं। आज तो हम केवल अधिकारों की बात करते हैं। इसीलिए विद्यार्थियों के बीच हम इतनी अनुशासनहीनता पाते हैं। कर्तव्यों पर बल देने के बदले अधिकारों पर गलत रूप से बल देने के कारण तथा धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र-रचना की आड़ में धर्म के राष्ट्रीय आदर्श को छोड़ देने के कारण आज विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विद्यालयों में—शिक्षा-जगत् में सर्वत्र—इतनी अव्यवस्था है। प्राचीन दिनों में विद्यार्थी-जीवन अत्यन्त अनुशासित था।

तब विद्यार्थी गुरु के पास आठ वर्ष की वय में

जाता था और लगभग पन्द्रह वर्ष उनके पास बिता तेईस वर्ष की उम्र में घर वापस आता था। तत्पश्चात् वह विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। यह गृहस्थाश्रम कैसा था? वह केवल भोग-सुख के लिए नहीं था। गृहस्थ के लिए भी कर्तव्यों का विधान था कि वह समाज में किस प्रकार वर्तन करे, अतिथियों का सत्कार किस प्रकार करे, समाज के हित के लिए धन का व्यय कैसे करे, आदि आदि। गृहस्थ की समूची जीवन-योजना में पहला महत्त्व समाज की सेवा को दिया जाता था, तत्पश्चात् परिवार की सेवा को, व्यक्तिगत भोग-सुख का स्थान बाद में आता था। पर आज तो सेवा का आदर्श कहीं है ही नहीं, केवल भोग ही एकमात्र आदर्श रह गया है। मुझे कहने दुःख होता है कि माता और पिता तो स्वयं क्लब-सिनेमा आदि में घूमते रहते हैं और अपने बच्चों से आशा करते हैं कि वे चरित्रवान् बनें। यह कैसे सम्भव है? हमें चाहिए कि पहले हम बच्चों के लिए एक अच्छा वातावरण पैदा करें और तब हम आशा कर सकते हैं कि बच्चे हमारी इच्छा के अनुकूल बड़े हों। पर यदि विद्यालयों अथवा घर में वातावरण ठीक न हो, तो यदि बच्चे उचित रूप से वर्तन न करें या उनके पास यदि जीवन का कोई समुचित आदर्श न हो, तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। प्राचीन काल में जैसे गुरुकुलों और गृहस्थाश्रम में आदर्श जीवन बिताया जाता था, उसी

प्रकार हमें अपनी जीवन-प्रणाली को आज पुनः उस आदर्श से अनुप्राणित करना होगा। गृहस्थाश्रम को तब त्याग का आश्रम माना जाता था और वही समाज का मुख्य आधार था, क्योंकि इसी पर अन्य तीनों आश्रम--ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास खड़े थे। समाज-जीवन का प्राणकेन्द्र गृहस्थ था और उसे बहुत से कर्तव्यों का पालन करना पड़ता था। गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थाश्रम आता था, जो कि संन्यास और गृहस्थ आश्रमों में एक बीच की सी स्थिति थी। अन्त में संन्यासाश्रम आता था, जो कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए पूर्णतः त्याग और साधना का जीवन था। इस प्रकार प्राचीन काल में समाज की जो संरचना की गयी, वह महान् धार्मिक आदर्श के सुर में बँधी हुई थी।

इसी प्रकार जीवन के चार पुरुषार्थ थे--धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म क्या है? शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट अपने कर्तव्यों का अनासक्त मन से निर्वाह करना धर्म कहलाता है। इन कर्तव्यों का पालन कामनासक्ति से प्रेरित होकर नहीं करना चाहिए और शास्त्रनिषिद्ध कर्मों से दूर रहना चाहिए। यह धर्म है, नीतिपरायणता है। सभी लोगों से धर्म के इस महान् आदर्श के अनुसरण की आशा की जाती थी। प्राचीन भारत में ऐसे अनेक महान् पुरुष थे जिन्होंने धर्म के आदर्शों का कठोरता से पालन किया। इनमें श्रीराम, भीष्म और पाण्डवों आदि

के नाम उल्लेखनीय हैं। फिर शुकदेव आदि जैसे महापुरुष भी थे, जिन्होंने त्याग के महान् आदर्श का अनुसरण किया। धार्मिकता ही सामाजिक संरचना का आधार थी। धर्म के बाद अर्थ आता था। धन आवश्यक था। कोई इस बात को अमान्य नहीं कर सकता कि धन आवश्यक है। पर धनोपार्जन न्यायोचित उपाय से करना पड़ता था और वही जीवन का सब कुछ नहीं था। धनोपार्जन को शास्त्रोक्त आदर्श के द्वारा नियंत्रित करना पड़ता था। फिर काम अर्थात् कामना-पूर्ति के लिए भी स्थान था। पर इन कामनाओं को भी शास्त्र के उपदेशों द्वारा सीमाबद्ध करना पड़ता था। मनुष्य अपनी मर्जी के अनुसार विषय-भोगों में नहीं लगा रह सकता था। हर व्यक्ति सांसारिक जीवन का, विषय-भोगों का एक सीमा तक अनुभव ले सकता था, पर धर्म के महान् आदर्श द्वारा उन्हें नियंत्रित किया जाता था। अन्त में था मोक्ष का आदर्श। उसे कभी विस्मृत नहीं किया जाता था। जीवन की प्रत्येक क्रिया में उसे याद रखने की शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार जीवन के ये चार पुरुषार्थ थे।

फिर, ये चार महान् जातियाँ थीं--ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण बुद्धिजीवी व्यक्ति थे, जिन्होंने संस्कृति का विस्तार किया; क्षत्रियों ने संस्कृति की सुरक्षा की; वैश्यों ने देश को समृद्ध

किया; और शूद्र श्रमजीवी व्यक्ति थे, जिन्होंने सम्पत्ति पैदा की। अतः ये सभी देश के लिए, समाज के यथोचित संचालन के लिए समान रूप से आवश्यक थे। बाद में कुछ जातियों को कुछ विशेषाधिकार दे दिये गये, पर मूलतः ऐसा नहीं था। मूल भाव तो यह था कि समाज को प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार जो भी दे सकता था, दे। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सामर्थ्य के अनुसार समाज की सेवा करनी पड़ती थी और उसे अपनी आवश्यकता के अनुसार समाज से प्राप्त होता था। मेरे मत में, यह एक समाजवादी सिद्धान्त ही था। प्रत्येक को समाज की सेवा करनी पड़ती थी। ब्राह्मणों को भी समाज की सेवा का भार उठाना पड़ता था, उनका केवल विशेषाधिकारों का ही जीवन नहीं था। ब्राह्मणों के लिए एक आचरण-संहिता थी, जिसका उन्हें पालन करना पड़ता था। यदि वे उन नियमों का पालन न करते, तो उन्हें ब्राह्मण नहीं माना जाता। क्षत्रियों के लिए भी कुछ महान् सामरिक आदर्श थे, जिनका उन्हें सदैव पालन करना पड़ता। वैश्य दूसरे देशों को जाकर और वाणिज्य-व्यवसाय के द्वारा धनोपार्जन करते। पर इन सबका आधार धर्म था। इसी प्रकार, वे सब चीजें जो वैदेशिक व्यापार के द्वारा देश को समृद्ध बनातीं, श्रमिकों द्वारा उत्पादित की जातीं। वे भी समाज-संरचना

के समान अंग थे; ऐसे उपेक्षित नहीं थे, जैसा कि बाद में उन्हें किया गया। इन लोगों की उपेक्षा ही इस देश के पतन का कारण रही है। उच्चवर्णों ने जनसाधारण से अपने को अलग कर लिया और जनता को संस्कृति और आध्यात्मिक चेतना से वंचित कर दिया। परिणाम में मिली, जैसा कि स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, एक हजार साल की गुलामी, क्योंकि जनता को देश के मामले में रुचि नहीं लेने दिया गया। पर अब, जैसा कि स्वामीजी चाहते थे, जनसाधारण को आर्थिक दृष्टि से मुक्ति प्रदान करने और उसकी अवस्था को बेहतर बनाने के लिए प्रयास किये जा रहे हैं। अब यही हमारा कर्तव्य है।

समाज-सेवा के आधुनिक प्रतिनिधिगण अपने दृष्टिकोण में परसुखवादी अवश्य हैं, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता, पर दुर्भाग्य से वे सब पश्चिमी जड़वाद की उपज हैं। वे केवल भौतिक या आर्थिक क्षेत्र में ही काम करना पसन्द करेंगे—संस्कृति और अध्यात्म इन दो क्षेत्रों को वे नहीं छूएँगे। इस आधुनिकतावाद का यही दोष है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "मैं समाजवादी हूँ, इसलिए नहीं कि समाजवाद को मैं हमारी समस्त बुराइयों के लिए रामबाण दवा मानता हूँ, पर इसलिए कि नहीं-मामा से काना-मामा अच्छा।" आर्थिक सुधार केवल आधा समाधान है। जनसाधारण को उसके अपने परिश्रम

से अर्जित राष्ट्रीय सम्पत्ति में केवल उसका उचित अंश ही नहीं प्रदान करना है, अपितु उसे राष्ट्र की उस संस्कृति और आध्यात्मिकता के ग्रहण का भी अधिकार देना हैं, जिसका विकास हमारे महान् पूर्वजों ने किया था। यही कारण है कि स्वामीजी अपने एक लेख में उच्चवर्णों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं--

"तुम तो दस सहस्त्र वर्षों से सुरक्षित रखे हुए मुर्दे (mummies) जैसे ही हो...ऐ भारत के उच्च वर्गवालो, तुम तो माया के इस संसार में मानो इन्द्र-जाल हो, रहस्य हो, मरुमरीचिका हो ! ...तुम्हारी अस्थिमयी अँगुलियों में तुम्हारे पूर्वजों के संग्रह किये रत्न की कुछ अमूल्य मुद्रिकाएँ हैं और बहुत सी प्राचीन सम्पत्ति की पिटारियाँ तुम्हारे दुर्गन्धयुक्त मृत शरीर की छाती से चिपकी हुई हैं। अब तक तुमको उन्हें दूसरों को सौंप देने का अवसर नहीं मिला था। अब ब्रिटिश राज-शासन में, प्रतिबन्धरहित शिक्षा एवं ज्ञान-प्रसार के दिनों में उन सब वस्तुओं को अपने उत्तराधिकारियों को सौंप दो। यह बात यथासम्भव शीघ्र कर डालो। तुम अपने को शून्य में लीन करके अदृश्य हो जाओ और अपने स्थान में 'नव भारत' का उदय होने दो। उसका उदय हल चलानेवाले किसानों की कुटिया से, मछुए, मोचियों और मेहतरों की झोपड़ियों से हो। बनिये की दुकान से, रोटी बेचनेवाले की भट्ठी के पास से वह प्रकट

हो। कारखानों, हाटों और बाजारों से वह निकले। वह 'नव भारत' अमराइयों और जंगलों से, पहाड़ों और पर्वतों से प्रकट हो।"

यह एक महान् समाजवादी क्रान्ति का आह्वान छोड़ और क्या है? एक दूसरे सन्दर्भ में स्वामीजी ने कहा था, "मैं ऐसे किसी ईश्वर में विश्वास नहीं करता, जो मुझे यहाँ तो रोटी नहीं दे सकता पर स्वर्ग में शाश्वत आनन्द देता हो!" आर्थिक मुक्ति निस्सन्देह जरूरी है, पर केवल वही पर्याप्त न होगी। स्वामीजी यही प्रचारित करना चाहते थे। वे कहते थे कि यदि राष्ट्र को, विशेष करके निर्धन जनसाधारण को, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक सत्यों की शिक्षा दी जाय, तो एक महान् पुनर्जागरण साधित होगा और भारत पुनः उठेगा तथा इतनी ऊँचाइयाँ छूएगा, जितनी कि पूर्व में उसने कभी नहीं छूई थीं।

स्वामीजी ने जिस दूसरे महान् आदर्श पर बल दिया, वह था प्राचीन भारतीय संस्कृति में विद्यमान सामंजस्य और समन्वय का भाव। प्राचीन काल में एक महर्षि ने घोषणा की--'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' --'सत्य एक है, ऋषिजन उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं'। तब से यह आदर्श हमारी राष्ट्रीय संस्कृति और सभ्यता की मानो एक प्रमुख धारा बन गया है। वह प्राचीन काल से आज तक निर्बाध रूप से बहता चला आ रहा है। महान् आचार्यों और अवतारों ने

उस पर बल दिया है। श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में इस महान् सत्य, इस समन्वय के आदर्श पर बल दिया। लगभग सातवीं शताब्दी में आचार्य शंकर ने इस सामंजस्य और समन्वय के आदर्श पर जोर दिया। वे तो पंच-देवता-पूजा के प्रवर्तक थे। किसी भी देवता की पूजा करने से पूर्व यह पंच-देवता-पूजा आवश्यक है। ये पंच-देवता उन पाँच धार्मिक सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो उस समय सारे भारत में प्रचलित थे। एक छठे देवता——कार्तिकेय——भी थे, जो अखिल भारतीय देवता नही थे। इसलिए शंकराचार्य को बहुधा षण्मत-स्थापकाचार्य भी कहा जाता है। वास्तव में आज देशभर में केवल पंच-देवता-पूजा ही चला करती है। इसे आचार्य शंकर ने ही लोकप्रिय बनाया। वर्तमान युग में श्रीरामकृष्ण ने पुनः धार्मिक सामंजस्य और समन्वय के आदर्श पर बल दिया है——केवल वाणी से प्रचार करके नहीं, बल्कि हिन्दू धर्म के सभी पन्थों और विश्व के विभिन्न धर्मों के भी अनुसार साधना करके। उन्होंने विभिन्न साधना-प्रणालियों का अनुष्ठान किया और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अध्यात्म के सभी पथ उसी एक लक्ष्य की ओर ले जाते हैं। उनका यह निष्कर्ष उनकी अपरोक्ष अनुभूति पर आधारित था और इसलिए वह आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का ही अनुवर्तन करता है, जो प्रत्यक्ष अनुभूति पर आधारित प्रमाण की अपेक्षा रखता है।

हमारा संविधान कहता है कि हम एक धर्म-निरपेक्ष राज्य हैं। 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' से हमारा क्या मतलब ? यह देखने का निषेधात्मक तरीका है। हमें कहना चाहिए था कि हम सभी धर्मों को स्वीकार करते हैं, जैसा कि सम्राट् अशोक ने कहा था। यद्यपि वह बौद्ध था, फिर भी उसने जैन और हिन्दू धर्मों को स्वीकार किया था। स्वयं बौद्ध होते हुए भी उसने विभिन्न सम्प्रदायों के लिए मठ-मन्दिर बनवा दिये थे। राज्य-धर्म नाम की कोई चीज नहीं थी। अशोक ने सभी धर्मों का स्वीकार किया था। पर आज जब हम कहते हैं कि हम एक धर्मनिरपेक्ष राज्य हैं, तो इसका यह अर्थ होता है कि हमारे कोई धर्म नहीं है। हम विद्यालयों में अपने लड़के-लड़कियों को किसी धर्म की शिक्षा नहीं दे सकते, क्योंकि वह हमारी धर्मनिरपेक्ष राज्य की धारणा के अनुसार संविधान के अनुकूल नहीं होगा। सम्भवतः आजकल ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि यह एक विचित्र-सी स्थिति हमने पैदा कर ली है। इसलिए अब वे विद्यालयों और महाविद्यालयों में शायद धार्मिक शिक्षण की अनुमति दे रहे हैं। पर यह जो 'धर्म-निरपेक्ष राज्य' शब्द है, वह एक निषेधात्मक दृष्टि-कोण की ही सूचना देता है। हमें इसे यों रखना चाहिए था--हम सभी धर्मों को सत्य मानते हैं, इस-लिए हम मनुष्य-मनुष्य में धर्म के कारण किसी प्रकार का भेद नहीं करेंगे। ऐसी घोषणा बहुत सही होती।

इसी प्रकार मौलिक अधिकारों की घोषणा करने के बदले मौलिक कर्तव्यों का विधान करना अधिक उचित होता। प्राचीन भारत में कर्तव्यों का विधान केवल चार आश्रमों के लिए ही नहीं था, अपितु चारों वर्णों के लिए भी था। वह कर्तव्यों से भरा एक जीवन था और, जैसा कि स्वामीजी ने कहा, त्याग और सेवा ही भारत के आदर्श थे। हमें अपनी प्रत्येक क्रिया में त्याग का पाठ पढ़ाया जाता था। फिर, अपनी प्रत्येक क्रिया के माध्यम से हमें समाज की सेवा करना भी सिखाया जाता था। ये महान् समाजवादी आदर्श हैं, भले ही इन्हें आधुनिक रूप में नहीं रखा गया है। जीवन के प्रति भारतीय समाज का समग्र दृष्टिकोण समाजवादी था; पर कालप्रवाह से कई परिवर्तन साधित हुए और आज प्राचीन प्रणाली अत्यन्त भयावह दिखती है। किन्तु मूल रूप में वह एक सुन्दर व्यवस्था थी, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के बारे में सोचता था और अपने को अन्त में रखता था। आज तो हर व्यक्ति अपने को पहले रखता है और बाद में दूसरों के सम्बन्ध में सोचता है। आधुनिक संविधान और हमारी प्राचीन स्मृतियों में यही अन्तर है।

आज हमारे देश को इन सभी आदर्शों की आवश्यकता है--प्राचीन भारत का समाजवादी आदर्श, मोक्ष का महान् आध्यात्मिक आदर्श, त्याग और सेवा

की भावना तथा सामंजस्यपूर्ण यह दृष्टिकोण कि सभी धर्म सत्य हैं और वे ईश्वर-साक्षात्कार के अलग अलग पथ हैं। अपने देश को एक महान् राष्ट्र के रूप में संगठित करने के लिए ये सभी आदर्श आवश्यक हैं। हमारे देश में विभिन्न मानव-वंशों से निकले व्यक्ति हैं और विभिन्न धर्मों के माननेवाले लोग हैं। यहाँ सदैव से अनेक धर्म-सम्प्रदाय रहे हैं। यदि हम इन सबको एक राष्ट्र के रूप में गठित करना चाहते हैं, तो यह इसी सिद्धान्त के आधार पर सम्भव है कि सभी धर्म-पथ सत्य हैं। यही वह सन्देश था, जो श्रीरामकृष्ण ने दिया और जिसका प्रचार स्वामीजी ने किया। इस आदर्श के बिना इस देश को एक महान् राष्ट्र के रूप में गठित करना बड़ा कठिन है। हम राष्ट्र-गठन की बात तो करते हैं, पर वह अपने आप शून्य से उत्पन्न होनेवाली नहीं है। इसके लिए सर्वप्रथम एक ऐसा सामान्य आदर्श होना चाहिए, जो समस्त आदर्शों को अपने अन्तर्भुक्त कर ले। फिर उस आदर्श को साकार करने के लिए सुसंगठित प्रयास हो। तब कहीं सफलता मिल पाएगी। और वही हमें एक राष्ट्र के रूप में संगठित कर सकता है। यह सामान्य आदर्श क्या है? स्वामीजी ने बताया कि वह है समन्वयात्मक दृष्टिकोण पर आधारित धर्म। केवल यही एक राष्ट्र के रूप में हमें गठित कर सकता है।

स्वामीजी एक बहुकोणी हीरे के समान थे, जिसे

चाहे जिधर से देखा जाय, चमकीला दिखायी देता है। आजकल कुछ लोग स्वामीजी को एक महान् देशभक्त के रूप में देखते हैं, कुछ लोग एक महान् कवि के रूप में, कुछ लोग एक महान् समाज-सुधारक के रूप में अथवा एक शिक्षाविद् के रूप में, आदि आदि। पर वास्तविकता यह है कि वे यह सब तो थे, पर इस सबसे ऊपर और कुछ थे। वे ऋषि थे, अनुभूतिसम्पन्न महात्मा थे, उन्होंने आत्मा का साक्षात्कार किया था। और अनुभूति की उस ऊँचाई से वे हमारे राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को देखते थे। वे आत्मा की शक्ति से, उसके प्रकाश से हमारे राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक अंग को पुनरुज्जीवित और समृद्ध करना चाहते थे। वे आत्मा के उस प्रकाश को हमारे राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में विकिरित करना चाहते थे, जिससे देश उस महान् आदर्श के अनुसार नवजीवन पा सके। स्वामीजी ने यही करना चाहा था।

यदि हम स्वामीजी को समझना चाहते हैं, तो मात्र उनकी पुस्तकें पढ़कर उन्हें नहीं समझ सकते। हमें उनका ध्यान करना होगा और ध्यान की गहराई में जब हम उनसे तादात्म्य का अनुभव करेंगे, तभी उनकी महानता और उनके सन्देश को समझ सकेंगे। एक समय स्वामीजी ने मन्तव्य प्रकट किया था कि यदि कोई दूसरा विवेकानन्द होता, तो वही समझ सकता कि इस विवेकानन्द ने क्या किया है। स्वामीजी

का हम किसी भी प्रकार मूल्यांकन क्यों न करें, वह अपूर्ण ही होगा। स्वामीजी संसार को श्रीरामकृष्णदेव का सन्देश देने के लिए, उसका सर्वत्र प्रचार करने के लिए आये, जिससे यह देश फिर से एक महान् राष्ट्र के रूप में खड़ा हो जाय। श्रीरामकृष्ण से स्वामीजी ने जो सन्देश ग्रहण किया था, उसका अनुसरण करके ही भारत महान् हो सकता है। हम जितना शीघ्र यह सन्देश ग्रहण कर देश के गठन में जुटेंगे, उतना ही देश का कल्याण होगा। अन्यथा हम केवल बेतुकी कुछ हाँकते रहेंगे और इन विनाशात्मक आन्दोलनों के द्वारा अपनी शक्ति, समय और सम्भवतः धन का भी अपव्यय करते रहेंगे। स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलकर एवं उनके द्वारा प्रचारित महान् आदर्शों के अनुसार देश की पुनर्रचना करके ही हम देश को बचा सकते हैं। स्वामीजी ने एक बार कहा था, "श्रीरामकृष्ण ही भारत हैं और भारत ही श्रीरामकृष्ण है।" श्रीरामकृष्ण समग्र देश को जोड़नेवाली शक्ति हैं और उनकी पताका के नीचे विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय आदि एक महान् राष्ट्र के रूप में संगठित हो सकेंगे। वे राष्ट्र की जोड़नेवाली शक्ति हैं, उसके केन्द्र हैं। श्रीरामकृष्ण ने जिन महान् आदर्शों को जिया और स्वामीजी ने जिनका विश्वभर में प्रचार किया, एकमात्र वे ही भारत के पुनर्निमाण में हमारी सहायता कर सकते हैं। हम जितना शीघ्र उन्हें अपनाएँगे,

हमारा उतना ही कल्याण होगा। स्वामीजी का आशीर्वाद हम सब पर वर्षित हो, जिससे हम उनके सन्देश को ग्रहण कर सकें और उन्होंने जो मार्ग प्रदर्शित किया है, उस पर चलकर देश के पुनरुत्थान में अपने को खपा सकें।

●

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) बिना तेल की बाती

साईंबाबा शिरडी में एक मस्जिद में रहने लगे थे। उसका नाम उन्होंने 'द्वारिकामाई' रखा और वे वहीं आत्म-साधना एवं भगवद्भजन में लीन रहने लगे। भिक्षा माँगना और मस्जिद के सामने के आम्रवृक्ष के नीचे भजन करना, यह उनके दैनन्दिन कार्यक्रम का अंग बन गया था। उनकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी और वे चीथड़े पहनते थे। लोग उन्हें इस अवस्था में देखकर सनकी और पागल समझने लगे थे। इसी कारग उनके द्वारा भीख माँगने पर वे दरवाजा बन्द कर लेते थे।

एक बार उन्हें दिया जलाना था और तेल खत्म हो गया था। उन्होंने कई घरों में जाकर थोड़ासा तेल देने की प्रार्थना की, किन्तु लोगों ने उनकी प्रार्थना अनसुनी कर दी। जब बाबा ने देखा कि लोगों ने तेल न देने का ही ठान लिया है, तो उन्होंने पानी डालकर ही दिया जलाया। और लोग यह देखकर दंग रह गये कि वह दिया पानी के सहारे बराबर जल रहा है। दिया रात भर जलता रहा। अब लोगों को प्रतीति हुई कि अवश्य ही यह कोई पहुँचा हुआ महात्मा है। उनका निरादर करने के लिए उन लोगों को पश्चात्ताप हुआ और बाबा के चरणों पर गिरकर क्षमा-याचना की।

(२) निःस्पृहता

भक्त रैदास जाति से चमार थे, किन्तु साधु-सन्तों की बड़ी सेवा करते थे। एक बार एक साधु उनके पास आया। रैदास ने उसे भोजन कराया और अपने बनाये हुए जूते उसे पहनाये। साधु बोला, "रैदासजी, मेरे पास एक अनमोल वस्तु है। आप साधु-सन्तों की सेवा करते हैं, इस कारण मैं उसे आपको दूंगा। इसे 'पारस' कहते हैं और लोहे को छू देने मात्र से वह सोना हो जाता है।" और ऐसा कहते कहते उसने उनकी राँपी को पारस से स्पर्श करके सोना बना डाला। यह देख रैदासजी को दुःख हुआ कि वे अब जूते कैसे सी सकेंगे। तब साधु ने कहा, "अब आपको जूते सीने की आवश्यकता नहीं। इसी से सैकड़ों राँपियाँ आ सकती हैं।" इस पर रैदासजी बोले, "मगर यदि मैं सोना बनाता रहूँ, तो मेरे सोने की रखवाली कौन करेगा? तब तो मुझे भगवान् के भजन के बदले सोने की ही चिन्ता लगी रहेगी।" किन्तु साधु न माना और पारस पत्थर को छप्पर में रखकर चला गया।

एक वर्ष बाद वह साधु फिर रैदास के पास आया और उसे यह देख आश्चर्य हुआ कि रैदास की हालत वैसी ही है। उसने जब पारस पत्थर के बारे में पूछा, तो वे बोले, "मुझे नहीं मालूम। आपने जहाँ रखा होगा, वहीं होगा।" और वह साधु यह

देखकर दंग रह गया कि पारस पत्थर छत में उसी स्थान पर रखा हुआ है। तब वह बोला, "आप सचमुच धन्य हैं। आप चाहते तो इस पत्थर से मन्दिर बना सकते थे, निर्धनों को दान कर सकते थे।" इस पर रैदास ने उत्तर दिया, "महाराज, अभी तो मैं छिपे छिपे चुपचाप भगवान् का भजन कर लेता हूँ। अगर मन्दिर बनाता या दान करता, तब तो प्रसिद्धि मिलती और लोग मुझे बहुत तंग करते। मैं तो इस झगड़े में बिलकुल नहीं पड़ना चाहता।"

(३) अहंकार का परिणाम

हाजी मुहम्मद नामक एक मुसलमान सन्त हो गये हैं। उन्होंने साठ बार हज की यात्रा की थी और वे प्रतिदिन नियमित रूप से पाँच वक्त नमाज पढ़ते थे। एक दिन उन्होंने स्वप्न में देखा कि स्वर्ग और नरक की सीमा पर एक फरिश्ता एक छड़ी लेकर खड़ा है। जो भी मृतात्मा वहाँ आता, उससे वह उसके शुभ और अशुभ कर्मों के बारे में पूछताछ करता और उनके अनुसार स्वर्ग या नरक में भेजता था। जब हाजी मुहम्मद की बारी आयी, तो फरिश्ते ने पूछा, "तूने अपने जीवन में कौन से शुभ कर्म किये हैं?"

"मैंने साठ बार हज किया है," हाजी ने उत्तर दिया।

"हाँ, यह तो ठीक है, मगर क्या तू जानता है

कि इसका तुझे बड़ा गुमान है ? इसी कारण जब भी कोई तुझसे तेरा नाम पूछता था, तो तू 'हाजी मुहम्मद' बताता था। तेरे इसी गुमान के कारण हज जाने का जो भी फल तुझे मिलना था, वह सारा का सारा नष्ट हो गया। इसके अलावा यदि तून कोई अच्छा काम किया हो, तो बता दे।"

"मैं साठ साल से पाँचों वक्त नमाज पढ़ता आ रहा हूँ।"

"तेरा वह भी पुण्य नष्ट हो गया।"

"वह क्यों ?"

"याद है तुझे, एक बार कुछ धर्मजिज्ञासु तेरे पास आये थे। उस दिन तूने केवल दिखावे के कारण रोज से ज्यादा देर नमाज पढ़ी थी। यही कारण है कि तेरी साठ बरस की नमाज़ की तपस्या निष्फल हो गयी।"

यह सुन हाजी को बड़ा दुःख हुआ। पश्चात्ताप-दग्ध हो उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। अचानक उनकी आँख खुली और उन्होंने अपने को सोता हुआ पाया। वे जान गये कि यह तो ख्वाब था, किन्तु अब उनकी अन्दर की आँखें भी खुल गयीं। उन्होंन गरूर और नुमाइश से हमेशा के लिए तौबा कर ली और वे नम्र बन गये।

(४) हरिनाम-निष्ठा

भक्त हरिदास थे तो मुसलमान, मगर हरि के

परम भक्त थे। उनकी हिन्दू देवता के प्रति भक्ति देख गौराई काजी को ईर्षा हुई और उसने हरिदास के खिलाफ मुलकपति के कान भरे और कहा, ‘‘इस काफिर को ऐसी सजा दीजिए कि ऐसी नापाक हरकतें करने की वह फिर कभी जुर्रत न करे।’’ मुलकपति ने उसकी बात मानते हुए सेवकों को आदेश दिया, “जाओ, हरिदास को पकड़ लाओ और बेंत मारो।”

हरिदास को पकड़कर मुलकपति के पास लाया गया और सेवकों ने उन्हें बेंत से मारना चालू किया, किन्तु तब भी वे हरिनाम का जप कर रहे थे। यह देख मुलकपति बोला, “हरिनाम बन्द करोगे, तो तुम्हें माफ कर दिया जाएगा।” हरिदास ने कहा, “भैया, यदि तुम खुद मारना चाहते हो, तो मारते रहो, लेकिन अच्छा होता, तुम भी मेरे साथ हरिनाम लेते।” इससे मुलकपति को गुस्सा आया और उसने फिर से मारने का आदेश दिया। हरिदास पर बेंतों की मार का कोई असर नहीं हुआ। अब तो वे जोर जोर से हरिनाम लेने लगे और उसी में लीन हो गये। आखिर उन्हें मरा हुआ जान मुलकपति ने मारना बन्द करने का आदेश दिया और उन्हें गंगा नदी में फेंक दिया गया।

किन्तु हरिदास जीवित थे। लोगों ने उन्हें बाहर निकाला और उनके घर पहुँचा दिया। बात जब मुलकपति को मालूम हुई कि हरिदास तो जीवित हैं,

तो उसे पश्चात्ताप हुआ और उसने हरिदास के चरण पकड़े। तब वे बोले, "अपराध आपका नहीं है। यह तो होने ही वाला था। मनुष्य अपने अपने कर्मों का फल भोगता है, अन्य लोग तो निमित्त मात्र होते हैं। वास्तव में भगवान् यह जानना चाहते थे कि मैं रोगी तो नहीं हूँ, क्या मुझे भगवान् के नाम-जप में सचमुच ही रुचि है।"

यह सुनते ही उपस्थित लोगों के मुंह से 'धन्य, धन्य' शब्द निकल पड। मुलकपति और गोराई पर भी इसका असर पड़ा और वे उनके शिष्य बन गये।

(५) लेनदार कौन ?

छात्र-जीवन में स्वामी रामतीर्थ को दूध बड़ा प्रिय था। वे एक हलवाई से प्रतिदिन दूध पिया करते थे। एक बार पैसों की तंगी होने से एक महीने का दूध का दाम हलवाई को नहीं दे पाये। इसके कुछ ही दिनों के पश्चात् उनकी लाहौर के फोरमेन क्रिश्चियन कालेज में अध्यापक के पद पर नियुक्ति हुई और उन्हें नियमित वेतन मिलने लगा। तब वे प्रति माह हलवाई को मनीआर्डर से रकम भेजने लगे।

संयोग से हलवाई को लाहौर जाना पड़ा और उसकी मुलाकात स्वामीजी से हुई। तब वह हाथ जोड़कर उनसे बोला, "गोसाईंजी, आपसे एक ही महीने का पैसा आना था, मगर आप तो पिछले छह-सात महीने से बराबर पैसे भेजे जा रहे हैं। मैंने आपका

सब पैसा जमा रखा है। वह मैं आपको लौटा दूंगा, किन्तु अब आप पैसे न भेजा करें।"

स्वामीजी ने मुस्कराकर कहा, "भैया! मैं तुम्हारा बड़ा आभारी हूँ। उस वक्त तुमने जो मुझ पर कृपा की, उससे मेरा स्वास्थ्य बना रहा। इसी कारण मैं इतना काम कर सकता हूँ। तुम्हारा कर्जा न तो अदा कर पाया हूँ और न जीवन भर अदा कर पाऊँगा।"

वे आगे बोले, "जो मनुष्य लेकर देना नहीं चाहते, वे 'राक्षस' कहलाते हैं। जो व्यक्ति जितना लेते हैं, उतना नाप-तोलकर देते हैं, वे 'मनुष्य' होते हैं। जो जितना लेते हैं, उससे कई गुना देते हैं और यह सोचते हैं कि हमने एहसान का बदला कहीं अधिक चुका दिया, वे 'देवता' के बराबर होते हैं, किन्तु जो थोड़ा लेकर सदा उसका एहसान मानते हैं और उसे बिना नाप-तोल के चुकाने का प्रयास करते हैं, वे ब्रह्मत्व को प्राप्त होते हैं और भगवान् की पदवी पाते हैं। इसलिए भाई, 'मैं तो भगवान् बनने का प्रयास' कर रहा हूँ, क्योंकि तुमने मुझे दिया है और तुम्हारी बदौलत ही कदाचित् प्रभु ने, मुझे इस योग्य बनाया है।'

•

सीतल सुभग भगत सुख दाता

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने दिल्ली के बिड़ला लक्ष्मी-नारायण मन्दिर में 'लक्ष्मण-चरित्र' पर ४ से ११ अप्रैल, १९७३ तक आठ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख इस क्रम का दूसरा प्रवचन है। पहला प्रवचन 'विवेक-ज्योति' के पिछले अंक में छप चुका है।

टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री नन्दकिशोर स्वर्णकार ने किया है, जो दिल्ली की सालिड स्टेट फिजिक्स लेबोरेटरी में कार्यरत हैं। उनकी इस बहु-मूल्य सेवा के लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।--स.)

पिछले प्रवचन में इस बात की ओर संकेत किया गया कि श्री लक्ष्मण आधिदैविक अर्थों में सहस्रशीर्ष शेष हैं और आध्यात्मिक अर्थों में मूर्ति-मान काल। इसके साथ ही साथ इस बात की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया कि भगवान् श्री राम की लीला में श्री लक्ष्मण की अपनी विशिष्ट भूमिका है। 'रामचरितमानस' की यह मान्यता है कि श्री राम लीला करते हैं और लीला का तात्पर्य होता है नाटक। रंगमंच पर जब योजनापूर्वक कोई नाटक प्रदर्शित किया जाता है, तो उसे हम लीला कहते हैं। और नाटचमंच पर एक अभिनेता को उसकी योग्यता के अनुरूप ही भूमिका दी जाती है। इसी प्रकार भगवान् श्री राम की इस लीला में श्री लक्ष्मण को अपने स्वरूप के अनुरूप भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है।

हमारी काल सम्बन्धी धारणा क्या है? व्यक्ति तो देश में स्थित है, पर देश की अवस्थिति किसमें है? यह जो आकाश दिखायी देता है, ग्रह-नक्षत्र दिखायी देते हैं, ये सब किस आधार पर टिके हुए हैं? यह पृथ्वी कहाँ टिकी हुई है? इसका उत्तर विज्ञान अपनी भाषा में देता है और पुराण अपनी भाषा में। आध्यात्मिक भाषा में उसे हम काल-तत्त्व कहते हैं, जिसमें यह देश स्थित है। विज्ञान की दृष्टि से आप चाहे उसे गुरुत्वाकर्षण कह लें, या पुराण की भाषा में कह लें कि पृथ्वी सहस्त्रशीर्ष शेष के सिर पर टिकी है, मूल तात्पर्य एक ही होता है। सर्प को प्राचीन काल से काल का रूप माना जाता रहा है। 'रामचरितमानस' में भी उसका इसी रूप में वर्णन किया गया है -- 'कालव्यालकरालभूषण-धरं गंगाशशांकप्रियम्' (६/श्लोक १) अथवा 'काल ब्याल कर भच्छक जोई' (६/५५/८)। यों तो साधारण सर्प भी काल का ही प्रतीक है, पर यह सर्प तो हजार सिरवाला है। इसका तात्पर्य क्या? एक चतुर मदारी जानता है कि सर्प के प्रहार की क्षमता उसके मुख में होती है, इसलिए वह चतुराई से सर्प की गर्दन दबा देता है। फलस्वरूप साँप विवश हो जाता है। अब एक सिरवाला सांप हो, तो उसका सिर दबा भी दीजिए, पर जिसके हजार सिर हों, उसका कौन कौन सा गला मनुष्य पकड़ेगा?

अभिप्राय यह है कि काल के मार्ग को रोकने की मनुष्य चाहे जितनी चेष्टा क्यों न करे, वह सफल-काम नहीं हो सकता, क्योंकि उसके तो हजार सिर हैं। मनुष्य किसी भी उपाय से काल के मार्ग को अवरुद्ध नहीं कर सकता, काल को अपनी मुट्ठी में नहीं पकड़ सकता। व्यक्ति अपनी सफलता के क्षणों में भले ही ऐसा सोचने लगे कि मैंने काल को पकड़ लिया है, पर वह उसका मिथ्या भ्रम ही है। श्री लक्ष्मण इसी भ्रम के प्रति जीव को सचेत करते हैं। हमें उनकी भूमिका में कुछ कठोरता भी दिखायी दे सकती है, पर यह कठोरता भी जीव के कल्याण के ही लिए है। श्री लक्ष्मण की मुख्य भूमिका है ईश्वर का परिचय देना। यों भी हम देखें तो कह सकते हैं कि ईश्वर का सच्चा परिचय देनेवाला तो काल ही है। ईश्वर तो हमारे समक्ष प्रत्यक्ष है नहीं, तब फिर व्यक्ति को ईश्वर की सत्ता की अनुभूति कैसे होती है ?—काल के रूप में। व्यक्ति जब युवा होता है, तब उसकी क्षमताएँ बहुत अधिक होती हैं। जब वह सफल होता है, उस समय उसे जान पड़ता है कि यह सब मेरी ही विशेषता है। ऐसे समय वह काल और शक्ति के गणित को भुला देता है। तब भला उसे ईश्वर की स्मृति आने का प्रश्न ही कहाँ ? उसे तो यही लगता है कि सारी सफलता के मूल में उसकी अपनी वुद्धि है, अपने सत्कर्म हैं, अपनी व्यक्तिगत

विशेषताएँ हैं। लेकिन यह काल बड़ा विलक्षण है। वह निरन्तर गतिशील है। जब भी व्यक्ति ईश्वर को भूलने लगता है, यह काल बड़ी तेजी से उसे झकझोरकर वास्तविकता की ओर उसकी दृष्टि आकर्षित करता है। यौवन में व्यक्ति का शरीर बड़ा सबल होता है और उसे लगता है कि यह सबलता मेरी है। पर जब समय पाकर उसका शरीर कृश होता है, क्षमताएँ समाप्त होने लगती हैं, बुद्धि की स्मृति-शक्ति शिथिल हो जाती है, तब काल मानो उससे पूछता है कि कहो, यदि सबलता तुम्हारी थी, तो वह गयी कहाँ ? तब काल कड़ुवा लगता है। तभी तो लक्ष्मणजी कड़ुवे लगते हैं, क्योंकि उनका स्वभाव, उनकी प्रकृति ही कालरूप है। और काल ऐसा सत्य है, जिसे हम देखना नहीं चाहते। व्यक्ति भविष्य के प्रति अपनी आँखें बन्द कर लेना चाहता है। उसे काल का चिन्तन अच्छा नहीं लगता। जैसे कोई व्यक्ति सुरा पीकर थोड़ी देर के लिए अपने को सचाई से अलग कर लेता है, उसी प्रकार मोह की मदिरा का पान कर संसार काल के सत्य को भुला देना चाहता है – 'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरां मत्तं समस्तं जगत्'। पर काल के सत्य को भुलाने की चेष्टा करने से क्या काल अपना काम करना बन्द कर देगा ? वह तो अपनी अवस्थिति का बोध किसी न किसी प्रकार कराएगा ही। इसका एक प्रतीकात्मक

संकेत हमें 'रामचरितमानस' में सुग्रीव और बालि के प्रसंग में प्राप्त होता है।

सुग्रीव और बालि के संघर्ष को गोस्वामी तुलसीदासजी दो रूपों में प्रस्तुत करते हैं। 'विनय-पत्रिका' में वे बालि को मूर्तिमान् कर्म के रूप में देखते हैं और सुग्रीव से अपनी तुलना करते हुए कहते हैं कि जैसे सुग्रीव बालि के द्वारा संत्रस्त था, उसी प्रकार मैं भी कर्मरूप बालि के द्वारा संत्रस्त हूँ-- 'करम-कपीस बालि-बली-त्रास-त्रस्यो हौं' (१८१/७)। बालि बड़ा भाई है और सुग्रीव छोटा। कर्म और जीव का यही सम्बन्ध है। दोनों में अनोखी प्रीति है, पर यह प्रीति कभी विरोध में भी परिणत हो जाती है। यही कर्म का स्वभाव है। यह आवश्यक नहीं है कि यदि आज कर्म हमारे अनुकूल हो, तो कल भी वह अनुकूल ही रहेगा। जब बालि प्रसन्न था, तब सुग्रीव को वह इतना अधिक चाहता था कि स्वयं सुग्रीव ने भगवान् राम को अपना संस्मरण सुनाते हुए कहा था--

नाथ बालि अरु मैं द्वौ भाई।
प्रीति रही कछु बरनि न जाई ।। ४/५/१

और सुग्रीव बालि के स्नेहपूर्ण संरक्षण में बड़ा निश्चिन्त था। पर एक दिन बालि रुष्ट हो गया। उसके रोष का एक कारण था। मायावी नामक दैत्य ने उसे चुनौती दे दी, और जब वह युद्ध करने के लिए चला,

तो सुग्रीव भी पीछे चला। बालि बड़ा ही शक्तिशाली था। उसने रावण को भी अपनी बगल में दबा लिया था। इसका तात्पर्य यह है कि रावण जगत्-विजेता हो सकता है, पर वह कर्म-विजेता नहीं हो सकता। कर्म रावण को भी अपनी बगल में दबा लेता है। कर्म के साथ भला कौन युद्ध कर सकता है? बालि कर्म है और इसलिए उसे अपनी विजय का विश्वास है। वह मायावी के पीछे दौड़ता है। मायावी एक गुफा में घुस जाता है। बालि सुग्रीव से कहता है कि तुम एक पक्ष तक मेरी प्रतीक्षा करना। कर्म अपनी सफलता के लिए एक काल निश्चित कर देता है। यहीं पर कर्म ने भूल कर दी। वह सोचता है कि काल मेरे आधीन है। पर वास्तव में तो कर्म ही काल के आधीन है। व्यक्ति का जीवन केवल कर्म से संचालित नहीं होता, वह तो सृष्टि के चार तत्त्व हैं, जो मिलकर जीव के चारों ओर कार्य करते हैं, उसका जीवन संचालित करते हैं। इसीलिए व्यक्ति के जीवन के विषय में निर्णय करना बड़ा कठिन है। इन चार तत्त्वों का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी 'रामचरित-मानस' में कहते हैं--

> फिरत सदा माया कर प्रेरा।
> काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥ ७/४३/५

अतः कर्म स्वतंत्र नहीं है। इसीलिए वह काल के गणित में अनुत्तीर्ण हो जाता है। बालि की धारणा

थी कि वह मायावी को पन्द्रह दिन में परास्त कर देगा, और जब वह पन्द्रह दिनों में उसे परास्त न कर सका, तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि बालि स्वयं परास्त हो गया, भले ही बाद में––तीस दिन में–– वह मायावी को मारने में सफल हुआ। पर उसका काल का गणित गड़बड़ा गया। जब तीस दिन तक प्रतीक्षा करने के बाद भी बालि गुफा से बाहर नहीं आया और सुग्रीव ने रक्त की धार वहाँ से बहती देखी, तो उसने सोच लिया कि बालि मारा गया है वह लौटकर सबको सूचित कर देता है कि बालि की मृत्यु हो गयी है। मंत्रीगण सुग्रीव को राज्य दे देते हैं। इधर जब बालि दैत्य को मारकर घर लौटता है' और वहाँ सुग्रीव को सिंहासन पर बैठे देखता है तो क्रुद्ध हो वह सुग्रीव को दण्ड देने के लिए प्रस्तुत होता है। सुग्रीव बाद में श्री राम से अपना दुखड़ा रोते हुए कहता है कि बालि ने मुझसे सिंहासन पर बैठने का कारण तक नहीं पूछा और मुझे मार-पीटकर, मेरा सब कुछ छीनकर निकाल दिया। इसका तात्पर्य क्या ? यह कि कर्म दिखनेवाली क्रिया का दण्ड देता है, वह उसके पीछे निहित भाव को नहीं देखता। कर्म के मन में यह विचार नहीं कि आप किस भाव से कार्य कर रहे हैं। आग सामने है, वह यह नहीं देखेगी कि हम अच्छे भाव से उसमें पैर रख रहे हैं या बुरे भाव से। अग्नि

का धर्म है ज्वलनशीलता। ऐसा नहीं होता कि सद्भावपूर्वक पैर रखने पर अग्नि नहीं जलाएगी और दुर्भावपूर्वक रखने पर जलाएगी। वह तो हर दशा में जलाएगी। इसी प्रकार कर्म क्रिया का परिणाम दिया करता है, उसके पीछे के सद्भाव या दुर्भाव को नहीं देखता। बालि सुग्रीव से राज्य छीन लेता है और उसे देशनिकाला दे देता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब कर्म अनुकूल होता है, तो सुख देता है, सम्पत्ति देता है और जब प्रतिकूल होता है, तो सब कुछ के छिनते देर नहीं लगती। सुग्रीव भगवान् राम को अपना संस्मरण सुनाते हुए कहता है कि बालि ने उसका पीछा किया। अभिप्राय यह कि जब व्यक्ति के जीवन में प्रतिकूलता आती है, तो वह स्थान-परिवर्तन की बात सोचता है, विचार करता है कि शायद इस नगर को छोड़ उस नगर में चले जाने से भाग्य में कोई परिवर्तन आ जाय। सुग्रीव जहाँ जहाँ जाता है, बालि सर्वत्र उसका पीछा करता है—

ताकें भय रघुबीर कृपाला।
सकल भुवन में फिरेउँ बिहाला॥ ४/५/१२

तात्पर्य यह है कि जीव जहाँ जाएगा, कर्म वहीं उसका पीछा करेगा। तब भगवान् राम सुग्रीव से पूछते हैं—फिर तुम यहाँ कैसे रुक गये? सुग्रीव कहता है—महाराज, मैंने सुना कि यह ऋष्यमूक पर्वत ऐसा है, जहाँ शाप के कारण बालि का प्रवेश नहीं है, इसीलिए

में यहाँ आकर रुक गया।

तो, यह ऋष्यमूक सत्संग का ऐसा पर्वत है, जहाँ कर्म प्रवेश नहीं कर सकता। जब तक आप सत्संग में हैं, सद्विचार में डूबे हैं, तब तक कर्म की सत्ता विस्मृत रहती है। पर जैसे ही व्यक्ति इस सत्संग के ऋष्यमूक पर्वत से नीचे उतरता है कि बालि-रूप कर्म का राज्य प्रारम्भ हो जाता है। कर्म के भय से डरा हुआ बेचारा जीव सत्सग का आश्रय तो लेता है, पर वह पूर्ण निश्चिन्तता का अनुभव नहीं कर पाता। जब हनुमानजी के आश्रय से उसे ईश्वर से साक्षात्कार का सौभाग्य प्राप्त होता है, तभी वह आश्वस्त हो पाता है। अभिप्राय यह कि व्यक्ति कर्म पर अपनी क्षमता से विजय नहीं प्राप्त कर सकता, उसके लिए तो उसे ईश्वर का ही आश्रय लेना होगा, क्योंकि ईश्वर ही काल, कर्म, स्वभाव और गुण का नियामक है। और ईश्वर का यह आश्रय सुग्रीव परम सन्त हनुमान के माध्यम से प्राप्त करते हैं। हनुमानजी भगवान् शंकर के अवतार हैं और शंकरजी विश्वास के मूर्तिमान् रूप हैं—'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वास-रूपिणौ'। अतः हनुमानजी भी मूर्तिमन्त विश्वास हैं। सुग्रीव का सब कुछ छिन जाने पर भी वे हनुमानजी का साथ नहीं छोड़ते। उनका राज्य छिन गया, सारी सुविधाएँ छिन गयीं, उनका सब कुछ नष्ट हो गया, पर वे विश्वास को नहीं छोड़ते और इसीलिए अन्त

में सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं। यह विश्वास ही सुग्रीवरूप जीव को ईश्वर से मिलाता है और दोनों में मित्रता कराता है। तब भगवान् राम सुग्रीव को आश्वस्त कर देते हैं और उनके मिस जीवमात्र को आश्वासन देते हैं कि हे जीव, तुम निश्चिन्त हो जाओ, हम तुम्हें कर्म के त्रास से मुक्त कर देंगे। कर्म के इस महान् चक्र से मुक्त करने की क्षमता केवल ईश्वर में है। वे कर्मरूप बालि का विनाश करते हैं और सुग्रीव अपना खोया हुआ राज्य पुनः पा लेते हैं।

यहाँ पर एक नया प्रश्न खड़ा हो उठता है कि कर्म-सिद्धान्त का निर्माता कौन है, सृष्टि किस सिद्धान्त के द्वारा चल रही है? 'रामचरितमानस' में कहा गया है कि ईश्वर ही कर्म-सिद्धान्त का नियामक है और उसी ने यह विधान बना दिया है कि व्यक्ति को कर्म के अनुसार फल प्राप्त होगा——

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥ २/२१८/४

अब यदि ऐसी परिस्थिति में शरणागति के प्रवेश से कर्म-सिद्धान्त खण्डित हो जाए, तो फिर क्या होगा? उत्तर में कहा जाता है कि यह तो ठीक है कि कर्म का सताया जीव भक्ति का, ईश्वर का आश्रय लेगा, पर यदि भक्ति के द्वारा कर्म-सिद्धान्त पर उसकी विजय हो गयी, और वह कर्म के भय से मुक्त हो गया, तब तो वह एक दूसरे भय से आक्रान्त हो

जायगा। वह दूसरा भय क्या है?

जब भगवान् राम ने सुग्रीव को राज्य दिया, तो उन्होंने दो बातें कहीं -- एक तो यह कि 'अंगद सहित करहु तुम्ह राजू' (४/११/९) और दूसरी, 'संतत हृदयँ धरेहु मम काजू।' यह अंगद बालि का परिष्कृत रूप है। बालि अन्ततोगत्वा भगवान् के प्रति समर्पित होकर उनमें समा जाता है और शरणागत के रूप में अंगद को सौंप जाता है। अभिप्राय यह कि कर्म तो ईश्वर-निर्मित है और इसलिए उसका विलय अन्त में ईश्वर में होता है। वह अपना परिष्कृत रूप अंगद के रूप में छोड़ जाता है। जब भगवान् राम सुग्रीव से कहते हैं कि अंगद को साथ लेकर राज्य करो, तो इसका तात्पर्य यही है कि ईश्वर के आश्रय से तुम बालिरूप कर्म से तो निश्चिन्त हो गये, पर ईश्वर के प्रसादरूप इस अंगद-रूप कर्म को मत भूलना। साथ ही वे यह भी धीरे से कह देते हैं कि मेरे काम का — सीतारूपी भक्ति-देवी को खोजने के कार्य का — हृदय में सदा ध्यान रखना; सीताजी को भूल मत जाना। कर्म से निश्चिन्त जीव से भगवान् कहते हैं कि तुमने ईश्वर के आश्रय से कर्म पर विजय प्राप्त तो कर ली, पर भक्ति को याद रखना, मुझे मत भूलना। व्यक्ति के साथ यही समस्या होती है। पहले तो वह भयभीत रहता है कि जैसा कर्म करेगा, वैसा फल पाएगा,

पर जब कर्म के भय से वह मुक्त हो जाता है, तो उसके द्वारा ऐसी मुक्ति के दुरुपयोग की सम्भावना पैदा हो जाती है। जिस ईश्वर का आश्रय लेकर वह कर्म-भय से मुक्त होता है, उसी को वह भूल जाता है। इसी-लिए भगवान् राम सुग्रीव को चेतावनी देते हैं कि तुम राज्य करो, पर सीताजी को मत भूलना। पर सुग्रीव प्रभु के आदेश का ठीक ठीक पालन नहीं कर पाते। वे उस समस्या से ग्रस्त हो जाते हैं, जो कर्म से ऊपर उठ जानेवालों के समक्ष आया करती है। जब बालि का आतंक समाप्त हो गया और कर्म से निश्शंक हो सुग्रीव राज्य करने लगे, तो राज-सत्ता में वे ऐसे डूब गये कि भगवान् विस्मृत हो गये, भक्ति का विस्मरण हो गया। वर्षा भी बीत गयी। पहले गर्मी थी, फिर वर्षा आयी। गर्मी यानी व्याकुलता देखकर भगवान् ने अपनी कृपा की वर्षा की। भगवान् आशा करते रहे कि चलो सुग्रीव अभी वर्षा का आनन्द ले रहा है, पर जब वर्षा बीत जायगी, तब तो वह मेरी याद अवश्य करेगा। शरद ऋतु में जल धीरे धीरे बरसता है। उससे शीतलता तो आती है, पर जल के स्वच्छ होने पर भी भूमि के संयोग से उसमें मलिनता आ जाती है। भगवान् की कृपा का जल तो स्वच्छ ही होता है, पर जीव के अन्तःकरण में वासना की जो मिट्टी है, उसके स्पर्श से उस कृपा के जल में मलिनता का बोध होने लगता है। भगवान् की कृपा से

व्यक्ति को जब सत्ता मिलती है, धन मिलता है, सम्पत्ति मिलती है, तो वह बड़ा प्रसन्न होता है, पर वह यह समझ नहीं पाता कि अपनी वासना के द्वारा वह उस कृपा को मलिन बना रहा है। भगवान् आशा करते थे कि सुग्रीव के अन्त:करण की वासना की मिट्टी धीरे धीरे बैठेगी और उसके सामने भगवान् के कृपारूपी जल का स्वच्छ स्वरूप प्रकट हो जायगा, पर जब वर्षा ऋतु के व्यतीत हो जाने पर शरद ऋतु आ गयी, फिर भी सुग्रीव उनके पास नहीं आया, तो प्रभु ने लक्ष्मणजी का स्मरण किया। शरणागत सुग्रीव के लिए कर्म तो समाप्त किया जा चुका था। अब तक ईश्वर सृष्टि का नियमन कर्म के द्वारा कर रहा था, पर अब जब उसने शरणागत के लिए कर्म का विनाश कर दिया, तो शरणागत का संचालन किसके द्वारा करेगा? ऐसे अवसर पर प्रभु श्री लक्ष्मण का स्मरण करते हैं। वे उनसे कहते हैं--

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी।
पावा राज कोस पुर नारी।। ४/१७/४

--'लक्ष्मण! राज्य, खजाना, नगर और स्त्री पाकर सुग्रीव ने भी मेरी सुध भुला दी।'

संसार में यह एक सामान्य शिष्टाचार है कि जब कोई व्यक्ति किसी को भेंट में कोई वस्तु देता है, तो वह देनेवाले को कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद देता है, और यह भी ध्यान रखता है कि उचित अवसर प्राप्त

होने पर वह भी बदले में उसे कोई भेंट प्रदान करे। ईश्वर नित्य निरन्तर हमें भेंट भेजता रहता है। सारा जीवन ही हमें ईश्वर के द्वारा पुरस्कार के रूप में उपहार के रूप में प्राप्त हुआ है और जीवन में हर क्षण हमें ईश्वर का उपहार ही प्राप्त हो रहा है। प्रातःकालीन सूर्य की किरणों से लेकर हमारे जीवन का सारा क्रम ईश्वर से प्राप्त उपहारों के उपभोग में व्यतीत हो रहा है। कोई व्यक्ति यदि हमें गुलाब का एक फूल भेज दे, तो हम उसे धन्यवाद देते हैं, पर यह कितने दुःख की बात है कि जो ईश्वर सृष्टि की वाटिका में हमारे लिए कोटि कोटि गुलाबों को विकसित करता है, उसे हम याद नहीं करते। गुलाब के फूल देखकर हमें कभी यह स्मृति नहीं आती कि ईश्वर कितना कृपालु है, जिसने इन सुन्दर सुन्दर पुष्पों की सृष्टि की है। तभी तो प्रभु श्री लक्ष्मण से दुःख प्रकट करते हुए कहते हैं कि जिस सुग्रीव ने अपने जीवन में कर्म की समस्या देख ली है, जो स्वयं कर्म के आतंक से ग्रस्त रह चुका है, ऐसे सुग्रीव ने भी राज्य-सम्पदादि प्राप्त कर मुझे बिसार दिया! अब तो लक्ष्मण! मैंने एक निर्णय लिया है। वह क्या?——जिस बाण से मैंने बालि का वध किया था, उसी बाण से कल मैं मूर्ख सुग्रीव का वध करूँगा——

जेहिं सायक मारा मैं बाली।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली ॥४।१७।५

लक्ष्मणजी चौंक उठे। उन्हें आश्चर्य हुआ कि श्री राम मेरी भाषा कब से बोलने लगे ?

लक्ष्मणजी के चरित्र का अनुपम तत्त्व यह है कि वे श्री राम के द्वारा कभी भी ऐसा कार्य नहीं होने देना चाहते हैं, जिसमें श्री राम के स्वभाव की कोमलता या मर्यादा पर कोई आँच आए। कठोर भूमिका अपने लिए लेकर भगवान् राम को कोमल भूमिका में रखना उनका स्वभाव है। इसलिए गोस्वामीजी ने वन्दना में ही यह सूत्र जोड़ दिया है। वे जानते थे कि लक्ष्मणजी के व्यक्तित्व को लेकर प्रश्न उठेंगे ही। कहाँ भगवान् राम इतने कोमल और कहाँ लक्ष्मणजी इतने कठोर ! कोमल और कठोर का साथ कैसा ! परशुराम ने भगवान् राम से यह प्रश्न किया भी था कि तुम जैसे सज्जन के साथ यह टेढ़ा व्यक्ति कैसे ?-- 'सहज टेढ़ अनुहरइ न तोही' (१।२७६।८)--तुम्हारे साथ रहनेवाला तो तुम जैसा ही सज्जन होना चाहिए, पर यह तो जन्मजात टेढ़ा मालूम पड़ता है। प्रभु मुनि की यह बात सुनकर मुसकराए थे। पर लक्ष्मणजी ने स्पष्टीकरण करते हुए एक व्यंग्य-भरा वाक्य कहा था--'मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया' (१।२७७।८)--'महाराज, हम तो आपके अनुयायी हैं।' लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह था कि आखिर दोनों राम ही तो हैं और हम तो राम का ही अनुगमन करते हैं। एक राम के हम अनुज हैं, तो दूसरे राम

के अनुचर। लक्ष्मणजी के शब्दों में परशुराम के प्रति व्यंग्य भरा था। उनका अभिप्राय यह था कि महाराज, यदि टेढ़ापन बुरा है, जैसा कि आप कह रहे हैं, तो आप भी उसे छोड़ दीजिए और आपका अनुचर होने के नाते मैं भी उसे छोड़ दूँगा। और यदि श्री राम की सरलता आपको इतनी अच्छी लगती है, तो आप भी उसे अपने जीवन में स्वीकार कर लीजिए। यदि टेढ़ापन या क्रोध आपके लिए बुरा नहीं है, तो वह मेरे लिए बुरा क्यों होना चाहिए? 'अनुचर' शब्द का लक्ष्मणजी द्वारा प्रयोग उल्लेखनीय है। अनुचर केवल पीछे ही नहीं चला करता बल्कि वह सेवक भी होता है। जैसे यदि आपको कहीं जाना हो और आपका सामान उठाने-वाला कोई न हो, तो आप अपने सिर पर सामान लादकर चलते हैं, पर इतने में आपका कोई अनुचर आ जाय, तो उसके सिर पर सामान रख निश्चिन्त हो चलने लगते हैं। वैसे ही लक्ष्मणजी का अपने को मुनि का अनुचर कहने के पीछे कटाक्ष यह था कि मुनिराज, आपने क्रोध का बोझ बहुत दिनों तक ढोया, पर अब जब मैं आपका अनुचर आ गया हूँ, तो वह बोझ मेरे सिर पर दे दीजिए। अब तो आप 'परिहरि कोपु'—क्रोध को छोड़ दीजिए और 'करिअ अब दाया'—दया कीजिए। आप अपना क्रोध मुझे दे दीजिए, मैं सँभाल लूँगा। अभिप्राय यह है कि सृष्टि में केवल

कोमलता से काम नहीं चलता, कठोरता भी आवश्यक होती है। सृष्टि से टेढ़ापन या कठोरता को नष्ट नहीं किया जा सकता। चिकित्सक जब रोगी को दवा देता है, तो दवा मीठी भी हो सकती है, पर यदि शल्य-चिकित्सा की आवश्यकता पड़ी, तो चिकित्सक को कठोर शस्त्र का प्रयोग भी करना पड़ सकता है। तभी तो श्री राम के साथ सदैव श्री लक्ष्मण चला करते हैं। इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं--

रघुपति कीरति बिमल पताका।
दंड समान भयउ जस जाका॥ १।१६।६

--एक यदि पताका हैं, तो दूसरे उसे फहरानेवाले दण्ड के समान हैं। इससे बढ़कर कोई सार्थक उपमा नहीं हो सकती। पताका कोमल है और दण्ड कठोर, पर दोनों मिलकर ही सार्थकता की सृष्टि करते हैं। राज्य का प्रधान चिह्न ध्वज होता है और यह उचित तथा अपेक्षित है कि उसमें कोमलता और कठोरता का ठीक समन्वय हो। ध्वजा का वस्त्र इतना कोमल होता है कि वह तनना नहीं जानता और डण्डा इतना कड़ा होता है कि वह झुकना नहीं जानता। वस्त्र की प्रकृति शील की प्रकृति है, तभी तो 'धर्मरथ' के प्रसंग में भगवान् राम कहते हैं--'सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका' (६।७९।५)—'सत्य और शील उस रथ की मजबूत ध्वजा और पताका हैं।'

वस्त्र की शोभा इसमें है कि वह तनना न जाने और डण्डे की शोभा इसमें है कि वह न झुके। यदि तनना न जाननेवाला वस्त्र दण्ड का आश्रय न ले, तो झण्डा कभी फहरा नहीं सकता और जो ध्वज ठीक से फहरा न सकता हो, उसके प्रति व्यक्ति की श्रद्धा के न्यून हो जाने की सम्भावना बनी रहती है। केवल शील व्यक्ति की श्रद्धा को आकर्षित नहीं कर सकता। कभी कभी तो लोग दूसरे की कोमलता को कायरता भी समझ लेते हैं। जो व्यक्ति शील का प्रदर्शन करते हुए बार बार झुकता जाय, उसके सम्बन्ध में दूसरा व्यक्ति यह गलत धारणा बना सकता है कि वह शायद मुझसे डरता है, इसीलिए बार बार मेरे सामने झुक रहा है। अतः जब तक शील के पीछे शौर्य का कठोर दण्ड न होगा, तेजस्विता न होगी, वह लोगों के अन्तःकरण में सच्ची श्रद्धा का सृजन नहीं कर सकेगा, और हो सकता है कि वह कायरता का पर्यायवाची बन जाय। अतएव शील के साथ दण्ड का रहना आवश्यक है। यह दण्ड स्वयं में क्या है ? या तो वह अहंकार का प्रतीक है, या समर्पण का। जब डण्डा अपने को ऊँचा रखना चाहे, तो अहंकार का प्रतीक है और अपने स्थान पर झण्डे को फहराना चाहे, तो समर्पण का। यही लक्ष्मणजी का चरित्र है। उनकी भूमिका डण्डे की भूमिका है, पर वह अहंकार की भूमिका नहीं है, क्योंकि अहंकारी

तो स्वयं अपने आपको लोगों की दृष्टि में ऊपर उठाना चाहता है, अकड़कर यह दिखाना चाहता है कि मैं कितना बड़ा हूँ, जबकि लक्ष्मणजी अपने को दबाकर भगवान् राम के ही यश का विस्तार करना चाहते हैं, अपने को उपर उठाने की बात उनके मन में कभी आती ही नहीं।

लक्ष्मणजी की भूमिका बड़ी अनोखी है। गोस्वामीजी उनकी वन्दना में इसका संकेत करते हुए कहते हैं -- 'सदा सो सानुकूल रह मो पर, कृपा-सिंधु' (१/१६/८) -- 'हे सुमित्रानन्दन, आप कृपा के सिन्धु हैं।' पर उन्हें देखकर तो ऐसा नहीं लगता कि वे इतने कृपालु हैं, उल्टे यही लगता है कि वे प्रहार ही करते हैं। डण्डे को देखकर ऐसा लगना स्वाभाविक है, पर यदि उसे झण्डे के साथ जोड़ दिया जाय, तब तो ऐसा नहीं लगता कि उसका कार्य किसी को मारने का है, बल्कि यही लगता है कि उसका कार्य केवल कीर्तिध्वज को ऊपर उठाना है। लक्ष्मण-जी की यही भूमिका है, वे प्रभु की कीर्ति-पताका को फहराने का कार्य करते हैं। अतएव भगवान् राम जब उनसे कहते हैं कि जिस बाण से मैंने बालि का वध किया था, उसी बाण से कल उस मूर्ख सुग्रीव का भी वध कर दूँगा, तो श्री लक्ष्मण इस पर आपत्ति करते हैं। 'वाल्मीकि रामायण' में आता है कि भगवान् राम श्री लक्ष्मण से कहते हैं -- जाकर सुग्रीव को

बता दो कि जिस मार्ग से बालि गया था, वह सँकरा नहीं हो गया है, अब भी चौड़ा है और दूसरे भी उस मार्ग से जा सकते हैं। तात्पर्य यह कि यदि अनाचार का दण्ड बालि को प्राप्त हो सकता है, तो सुग्रीव उसका अपवाद नहीं हो सकता। तो, जब भगवान् राम सुग्रीव के वध की बात करते हैं, तो लक्ष्मणजी आपत्ति करते हैं। ऐसा क्यों ? जब भगवान् राम रावण को मारने के लिए चलते हैं, तब लक्ष्मणजी आपत्ति नहीं करते, क्योंकि उन्हें लगता है कि रावण के वध से प्रभु को कीर्ति मिलेगी। जब श्री राम खर और दूषण के नेतृत्व में आये चौदह हजार राक्षसों से लड़ने के लिए जाते हैं और लक्ष्मणजी से कहते हैं —

लै जानकिहि जाहु गिरि कंदर।
आवा निसिचर कटकु भयंकर ॥ ३/१७/११

— 'लक्ष्मण, तुम जानकीजो को लेकर पर्वत की कन्दरा में चले जाओ, राक्षसों की भयानक सेना आ गयी है,' तब भी लक्ष्मणजी कोई आपत्ति नहीं करते। लक्ष्मणजी को तो कहना चाहिए था कि प्रभु, राक्षसों की सेना विशाल है और आप मुझे युद्धक्षेत्र से हटाकर गुफा में भेज रहे हैं, मैं इतनी बड़ी सेना से आपको अकेले जूझने कैसे दूँगा ? पर वे ऐसा कुछ नहीं कहते और भगवान् राम की आज्ञा का पालन करते हुए जानकीजी को लेकर गुफा में चले जाते हैं। ऐसा क्यों ? इसलिए कि लक्ष्मणजी जानते हैं कि

चौदह हजार राक्षसों को मारने के लिए अधिक संख्या की आवश्यकता नहीं। उन्हें पता है कि जब इन राक्षसों ने तपस्या की और उनसे पूछा गया कि तुम क्या चाहते हो, तो उन्होंने वरदान माँगा — हमें कोई दूसरा न मारे, हम लोग यदि मरें भी, तो आपस में लड़कर मरें। ये राक्षस अपने आपको बड़ा बुद्धिमान् मानते थे; जब भी कोई वरदान देनेवाला आता, तो ये सोचते कि हम वही लेंगे जो यह न देना चाहे। इसलिए तरह तरह के वरदान सोचते। उन्होंने आपस में लड़कर मरने का जो वरदान माँगा, उसके पीछे भावना यह थी कि दूसरा हमें क्यों मारें, बाहर का विजेता क्यों हो? यदि मरना ही है तो अपनों से मरें, हारना है तो अपनों से हारें। फिर, वह वरदान माँगने के पीछे उनका यह विश्वास भी था कि हम आपस में इतना प्रेम करेंगे कि कभी एक दूसरे से लड़ेंगे नहीं। और जब लड़ेंगे ही नहीं, तो मरेंगे क्योंकर? ब्रह्माजी ने भी कह दिया-- 'तथास्तु'। लक्ष्मणजी इस सत्य को जानते हैं। उन्हें लगता है कि इन चौदह हजार राक्षसों को तो आपस में लड़कर ही मरना है। फिर मैं प्रभु के साथ यहाँ रहकर क्या करूँगा? वे अकेले ही उन सबके लिए पर्याप्त हैं। फिर, यदि मैं यहाँ रह गया, तो प्रभु की कीर्ति में बँटवारा हो जायगा। लोग विजय का आधा श्रेय प्रभु को देंगे और आधा मुझको भी। प्रभु की कीर्ति

का बँटवारा अच्छा नहीं, केवल उन्हीं को श्रेय प्राप्त हो। और ऐसा सोच लक्ष्मणजी प्रभु की बात पर कोई आपत्ति नहीं करते, वे सीताजी को लेकर चले जाते हैं। पर जब भगवान् राम कहते हैं कि जिस बाण से मैंने बालि को मारा, उसी से कल मूर्ख सुग्रीव का वध करूँगा, तो लक्ष्मणजी आपत्ति करते हैं। वे कहते हैं---प्रभु, आपके इस प्रस्ताव में मुझे आपत्ति है। इसमें मेरे तीन संशोधन हैं। पहला तो यह कि जब बालि को आपने दण्ड दिया, तो सुग्रीव को दण्ड देने का कार्य मुझे दीजिए, क्योंकि बालि बड़ा भाई था और उसे बड़े भाई ने दण्ड दिया, इसलिए छोटे भाई के भूल करने पर दण्ड देने के लिए छोटा भाई ही अच्छा रहेगा। दूसरा संशोधन यह है कि आपने जो अपने बाण से सुग्रीव को दण्ड देने की बात कही है, उस सन्दर्भ में मैं यह कहूँगा कि मेरे तरकस में ये जो बाण हैं, उनका भी उपयोग होना चाहिए। और तीसरा संशोधन यह कि आपने कल मारने की बात कही, वह ठीक नहीं। शुभ कार्य कभी कल पर नहीं डालना चाहिए। देखिए, पिताजी ने कहा था कि कल राज्य देंगे, सो आज तक नहीं हो पाया; यदि वे अपने निर्णय के अनुसार राज्य दे देते, तो सारा संघर्ष ही समाप्त हो जाता। अतएव मैं आज, अभी जाकर अपने वाण से सुग्रीव को दण्ड दे आता हूँ।

और प्रभु मुसकरा उठे। वे कोई जीव को मारने की योजना थोड़े ही बना रहे हैं, वे तो मात्र उसे डराकर सचेत कर देना चाहते हैं। उनकी यह योजना लक्ष्मणजी अपने आक्रोश से प्रकट कर देते हैं। वे श्री लक्ष्मण को समझाते हुए कहते हैं कि सुग्रीव को मारना नहीं है, उसे डर दिखाकर ले भर आना है--

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव ॥ ४।१८

भगवान् राम श्री लक्ष्मण के माध्यम से सुग्रीव के अन्तःकरण में भय पैदा करके उसे अपने पास आने लिए बाध्य करते हैं। लक्ष्मणजी हैं कालतत्त्व। जब ईश्वर की कृपा से जीव को कर्म से मुक्ति प्राप्त हो जाती है, तो इसका तात्पर्य यह नहीं ले लेना चाहिए कि ईश्वर के तरकस के तीर खाली हो गये। जब जीव कर्मभय से मुक्त हो, राज्य-सत्ता और भोग पाकर, ईश्वर को भूलने लगता है, तब ईश्वर काल को प्रेरित करता है। जब हम जीवन में ईश्वर का विस्मरण करने लगते हैं, तब काल आकर हमें सचेत कर देता है कि अरे, तुम भला हो क्या? तुम्हारी सत्ता तुम्हारी क्षमता, तुम्हारी योग्यता--यह सब भला है क्या, जिसके फेर में पड़कर तुम ईश्वर को भूले हुए हो? काल हमें डराता है, लक्ष्मणजी हमें डराते हैं। पर इनके डराने में एक विशेषता है। जब आप किसी

व्यक्ति को डराते हैं, तो वह डरकर आपसे दूर भागता है, पर जब लक्ष्मणजी हमें डराते हैं, तो हम ईश्वर के पास जाते हैं। प्रभु जो लक्ष्मणजी से कहते हैं— 'भय देखाइ लै आवहु', उसका यही तात्पर्य है कि डराकर मेरे पास ले आना। अभिप्राय यह है कि संसार में डर हमें उस व्यक्ति से दूर ले जाता है, जिससे हम डरते हैं, पर ईश्वर का डर हमें ईश्वर के पास ले जाता है। यही लक्ष्मणजी की भूमिका की सार्थकता है। वे व्यक्ति को भयभीत कर वस्तुतः ईश्वर के पास ही ले जाते हैं। भले ही उनका कार्य बाह्य दृष्टि से कठोर मालूम पड़ता है, पर वस्तुतः वे भीतर से कोमल हैं, वे जीव का कल्याण ही चाहते हैं। तो, लक्ष्मण के रूप में भगवान् राम काल को प्रेरित करते हैं कि वे जाकर सुग्रीव को इस सत्य का दर्शन कराएँ कि भले ही व्यक्ति कर्म से ऊपर उठ गया हो तथापि वह काल के द्वारा नियंत्रित है, इसलिए काल की विस्मृति उसे नहीं करनी चाहिए।

लक्ष्मणजी अपनी भूमिका सम्पन्न करते हैं। वे धनुष-बाण लेकर सुग्रीव के पास जाते हैं। समाचार पाकर सुग्रीव भय से काँप उठते हैं। काल का उग्र रूप जब सामने आता है, तो बड़े से बड़ा बुद्धिमान् और शक्तिशाली व्यक्ति भी भयभीत हो उठता है। सुग्रीव ऐसे समय एक चतुराई करते हैं। उन्हें लक्ष्मणजी के सामने जाने का साहस नहीं होता। वे

हनुमान से कहते हैं--

सुनु हनुमंत संग लै तारा ।
करि बिनती समुझाउ कुमारा ।। ४।१९।३

--तुम तारा को लेकर जाओ और लक्ष्मणजी को किसी भी प्रकार शान्त करो । इसका अभिप्राय यह है कि जीवन में जब कभी काल का भय उपस्थित हो, तो आप विश्वास का आश्रय ले लें । जैसे, जब बालक को माँ डराती है, उग्र रूप ले खड़ी हो जाती है और कहती है कि मैं तुझे पीटूंगी, जब उसकी आँखों में क्रोध की लाली झलकने लगती है, तब बालक क्या करता है ? किसके भरोसे निश्चिन्त रहता है ? उसे तो माँ के वात्सल्य का, माँ का अपने प्रति प्यार के विश्वास का ही भरोसा है और उसका यह विश्वास ही उसे निश्चिन्त रखता है ।

एक प्रसिद्ध कथा है । भगवान् राम ने दण्डकारण्य में कभी अपने नुकीले तीर को पृथ्वी में गाड़ दिया । जब तीर को निकाला, तो उसमें रक्त लगा हुआ था । उन्हें आश्चर्य हुआ कि पृथ्वी के नीचे ऐसा कौनसा जीव था, जो तीर से आहत हुआ ? उन्होंने लक्ष्मण से मिट्टी खोदने को कहा, तो उसमें से एक मेंढक निकल आया । श्री राम ने पूछा--भाई, जब बाण तुम्हारे ऊपर चुभने लगा, तो तुमने पुकारा क्यों नहीं ? मेंढक बोला--प्रभु, संसार का संकट आए तो ईश्वर को पुकारा जाता है, पर जब ईश्वर का ही संकट

पड रहा हो तो किसको पुकारें? यही सोच में चुप रहा।

तो, जैसे बालक को उसकी माँ के वात्सल्य का विश्वास निश्चिन्त रखता है, उसी प्रकार जीव पर जब काल का भय उपस्थित हो, तो उसे विश्वास का सहारा लेना चाहिए और समझना चाहिए कि काल उसे ईश्वर के पास जाने का ही सन्देशा दे रहा है। प्रभु वस्तुत: काल के माध्यम से जीव को अपने पास आने का ही निमंत्रण भेजते हैं। गोस्वामीजी 'रामचरितमानस' में इसका संकेत प्रदान करते हुए भगवान् राम के चरित्र का प्रतीकात्मक रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। प्रभु के हाथ में धनुष और बाण हैं——धनुष बिलकुल टेढ़ा है तो बाण बिलकुल सीधा। पर यह टेढ़ापन और सीधापन दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं, बल्कि दोनों मिलकर ही प्रभु का कार्य सम्पन्न करते हैं। धनुष पास रहता है और बाण दूर भी जाता है। एक में वक्रता है तो दूसरे में ऋजुता, पर दोनों व्यक्ति को प्रभु के पास लाने का ही कार्य करते हैं। श्रीकृष्ण जब किसी जीव को आकृष्ट करना चाहते हैं, तो मुरली पर स्वर-सन्धान करते हैं और जब श्री राम किसी को अपने पास बुलाना चाहते हैं, तो धनुष पर शर-सन्धान करते हैं। यह धनुष है क्या? 'लंकाकाण्ड' के प्रारम्भ में इसका संकेत देते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं——

लव निमेष परमानु जुग बरष कलप सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम को कालु जासु कोदंड ।। ६।१०

--लव, निमेष, परमाणु, वर्ष, युग और कल्प ये श्री राम के प्रचण्ड बाण हैं और काल उनका धनुष है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर का धनुष है मूर्तिमान काल, और यह काल टेढ़ा प्रतीत होता है। हमें ध्यान इस बात का रखना है कि इस काल की प्रेरणा किस दिशा में है। चाहे लक्ष्मणजी को सुग्रीव के पास भेजा जा रहा हो, चाहे इन्द्रपुत्र जयन्त के पीछे श्री राम का बाण लगा हो, महत्त्वपूर्ण तो वह है, जो श्री लक्ष्मण और बाण के रूप में कालतत्त्व को प्रेरित करता है।

भगवान् राम सीताजी का श्रृंगार कर रहे हैं। जयन्त को लगता है कि यह राजकुमार तो बड़ा विषयी मालूम पड़ता है, जो अपनी पत्नी का ऐसा श्रृंगार कर रहा है। यह ईश्वर कैसे हो सकता है? और वह कौए का रूप धारण कर सीताजी के चरणों पर अपनी चोंच से प्रहार करता है। जब भगवान् राम सीताजी के चरण से रक्त बहते देखते हैं, तो वे जयन्त के पीछे सींक के धनुष पर सींक के बाण का सन्धान करते हैं--'सींक धनुष सायक संधाना' (३।०।८)। गोस्वामीजी कहते हैं कि प्रभु ने धनुष भी सींक का बनाया और बाण भी सींक का। इसका तात्पर्य यह है कि काल तो ईश्वर का संकल्प है, कोई स्थूल वस्तु नहीं। मृत्यु के लिए लोहे के धनुष की

आवश्यकता नहीं, वह तो सींक से ही हो सकती है। मृत्यु के अनगिनत माध्यम हैं; व्यक्ति इतनी सरलता से मर सकता है, जिसका कोई ठिकाना नहीं। यही कारण है कि ईश्वर ने उस धनुष-बाण का प्रयोग नहीं किया, जिसे वे धारण करते हैं, बल्कि उन्होंने सींक का धनुष और सींक का ही बाण बना लिया। यह सींक क्या है? जब भगवान् राम सीताजी के लिए पुष्पों का आभूषण गूंथने लगे, तो वहाँ कोई सुई-धागा तो था नहीं, वे सींक से ही फूलों को गूँथ-गूँथकर आभूषण तैयार करने लगे। जब जयन्त ने सीताजी के चरणों में प्रहार किया, तो सींक के जो दो-एक टुकड़े बचे हुए थे, उन्हीं से श्री राम ने धनुष और बाण बना लिये। प्रभु मानो यह बताना चाहते हैं कि मेरे पास कोमल और कठोर दो वस्तुएँ नहीं हैं; जो सीक किसी के लिए आभूषण है, वही किसी दूसरे के लिए काल। ईश्वर के पास दो प्रकार के पदार्थ नहीं हैं। उसमें जो मूल तत्त्व है, वह कोमलता और कठोरता की अनुभूति मात्र कराती है, वस्तुतः उसमें पार्थक्य नहीं। 'विनय-पत्रिका' में गोस्वामीजी एक मीठी चुटकी लेते हुए कहते हैं--प्रभु, मुझे आपसे डर नहीं लगता। प्रभु ने पूछा--क्यों नहीं लगता? गोस्वामीजी ने कहा--मुझे इस बात का पता चल गया है कि आप किसके बने हुए हैं। आपकी मूर्त्ति कृपा की बनी है--'प्रभु मूरति कृपामयी'। गोस्वामीजी

यहाँ जो 'मूर्ति' शब्द लिखते हैं, उसका तात्पर्य क्या? वे कह सकते थे---आप कृपा के बने हुए हैं। 'मूर्ति' शब्द का प्रयोग हम मन्दिर की प्रतिमा के लिए करते हैं, किसी व्यक्ति के लिए नहीं। किसी व्यक्ति को देखकर हम ऐसा नहीं कहते कि यह मूर्ति है, पर जब हम मन्दिर में दर्शन के लिए जाते हैं, तो वहाँ की प्रतिमा के लिए मूर्ति शब्द का प्रयोग करते हैं। तुलसीदासजी ने भगवान् से कहा कि आपकी मूर्ति कृपा की बनी हुई है। यह 'मूर्ति' शब्द बड़ा ही साहित्यिक है। जब आप मूर्ति को ध्यान से देखेंगे, तब इसके महत्त्व से अवगत होंगे। आप लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में जाते हैं, तो क्या देखते हैं? यह कि भगवान् नारायण के एक हाथ में चक्र है, तो दूसरे हाथ में कमल। चक्र मारनेवाला है, कठोर है और कमल अत्यन्त कोमल। पर हँसी तो तब आती है, जब यह बात ध्यान में आती है कि मूर्ति में चाहे चक्र दिखायी दे, चाहे कमल, न तो चक्र कठोर है और न कमल कोमल, वहाँ तो केवल आकृतियाँ बनी हुई हैं। वस्तुतः दोनों के मूल में एक ही धातु है, जिसकी कि मूर्ति बनी हुई है। यदि मूर्ति पत्थर की है, तो चक्र भी पत्थर का है और कमल भी। गोस्वामीजी का तात्पर्य यह है कि महाराज, जो आकृति को देखता है, उसके मन में भले ही चक्र को देखकर डर उत्पन्न हो और कमल को देखकर आकर्षण, पर जो

दोनों की मूल धातु को देखता है, वह जानता है कि मूलतः आप एक ही हैं, आपका कमल तो आपकी कृपा का प्रतीक है ही, आपका चक्र भी आपकी कृपा का ही प्रतीक है--आप कृपा के ही बने हुए हैं।

तो, प्रभु सींक का ही आभूषण बनाते हैं और सींक का ही बाण और उसे जयन्त के पीछे छोड़ देते हैं--'प्रेरित मंत्र ब्रह्मसर धावा' (३।१।१)। मंत्र से प्रेरित होकर वह ब्रह्मबाण दौड़ता है और कौआ भयभीत होकर भाग चलता है। जीव काल से भयभीत होकर भागता है। जयन्त अपने पिता देवराज इन्द्र के पास जाता है, पर इन्द्र उसे अस्वीकार कर देते हैं। स्वर्ग कोई ऐसा स्थान तो है नहीं, जहाँ काल का प्रवेश न हो। देवताओं की आयु भले बड़ी लम्बी हो, पर हमारे शास्त्र और पुराण कहते हैं कि उनकी भी मृत्यु होती है, देवराज इन्द्र भी कालकवलित होते हैं। इसलिए जब जयन्त ईश्वर के काल के बाण से भयभीत होकर अपने पिता इन्द्र के पास जाता है, तो इन्द्र उसे अस्वीकार करते हुए कहते हैं--तुम्हें स्वीकार कर हम अपनी मृत्यु क्यों बुलाएँ, तुम चले जाओ। और जयन्त वहाँ से चला जाता है। वह ब्रह्मा के पास जाता है, शिवलोक जाता है, पर कोई उसे बैठने तक के लिए नहीं कहता। भला उसे कौन बिठा सकता है, जिसके पीछे काल लगा है? जहाँ तक काल की सत्ता है, उसके भीतर भला किसे साहस

होगा कि जयन्त को स्वीकार कर सके ? ब्रह्मलोक आदि सभी काल की सत्ता से नियंत्रित हैं। इसलिए--

ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका।
फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका।।
काहूँ बैठन कहा न ओही। ४।१।४-५

भय-शोक और क्लान्ति से जयन्त हताश हो उठा। सोचने लगा कि अब कहाँ जाऊँ। इतने में उसके जीवन में सन्त आ गये। देवर्षि नारद ने पूछा--'कहो जयन्त ! कहाँ भाग रहे हो ? जरा सुनो तो मेरी बात।' जयन्त बोला, 'देखते नहीं महाराज, मेरे पीछे क्या लगा है ?' देवर्षि बोले, 'अरे, यह तो भगवान् का बाण है--यह तो काल है। यह काल तुम्हारे पीछे क्यों लगा हुआ है ?' 'मारने के लिए।' 'कब से लगा हुआ है ?' 'जब मैंने सीताजी के चरणों में प्रहार किया तब से।' 'कहाँ कहाँ लगा रहा तुम्हारे पीछे ?' 'जहाँ जहाँ मैं गया, वहाँ वहाँ।' नारद ने हँसकर कहा--'जयन्त, तुमने बाण का सही अर्थ नहीं समझा। यदि उसका उद्देश्य तुम्हें मारना होता, तब तो वह तुम्हें कभी का मार दे सकता था, क्योंकि तुम्हें बचानेवाला तो कोई था नहीं। यह बाण तुम्हारे पीछे हर देश में था और वह चाहे जहाँ तुम्हें मार सकता था। पर जब वह तुम्हें मार नहीं रहा है, तो इसका कुछ अलग अर्थ है, जो तुम समझ नहीं पा रहे हो।' और यह सच ही तो है कि यदि

ईश्वर मारना चाहे, तब तो जीव को जन्म लेते ही मार दे सकता है, जीव की मृत्यु किसी भी क्षण हो सकती है। नारद की बात सुनकर जयन्त बोला, 'महाराज, मैं तो कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ कि बाण का क्या अर्थ है। आप ही बता दीजिए।' देवर्षि बोले, 'देखो जयन्त, यह बाण तुम्हारे पीछे पीछे चलकर बता रहा है कि तुम जहाँ भी जाओगे, यह भी तुम्हारे पीछे लगा रहेगा। तुम संसार में कहीं भी जाकर इस काल से नहीं बच सकते। यदि तुम बचना चाहते हो, तो उनके पास जाओ, जहाँ से यह काल प्रेरित हुआ है। जिन्होंने इस बाण का सन्धान किया है, उन्हीं के पास जाकर तुम इससे बच सकते हो।'

जयन्त ने काल की सर्वत्र गति देख ली थी। उसे सन्त की बातों का भरोसा हुआ। पर उसके मन में एक डर आया कि यदि मैं भगवान् के पास लौटकर गया और उन्होंने पूछ दिया कि यदि तुम्हें आना था, तो दूर क्यों गये, तो इसका क्या उत्तर दूंगा? देवर्षि बोले, 'उनसे कह देना कि महाराज, आपसे दूर भला कौन जा सकता है? मैं तो सारे संसार में घूमकर वस्तुतः आपका प्रभाव देख रहा था। अपने निकट वालों पर तो सबका प्रभाव होता है, पर मैं देखना चाहता था कि आपका प्रभाव कितनी दूर तक फैला हुआ है। सारे ब्रह्माण्ड का भ्रमण करके मैंने देख लिया कि आपका प्रभाव सभी जगह है।' 'पर

यदि भगवान् पूछ दें कि प्रभाव देखने गये थे, तो लौटकर पास आये क्यों, तो इस प्रश्न का क्या उत्तर दूंगा ?'--जयन्त ने पूछा। देवर्षि हँसकर बोले, 'तब कह देना कि महाराज, प्रभाव तो आपका देख ही चुका था, अब स्वभाव देखने की इच्छा से आपके पास आया हूँ। प्रभाव का परिचय दूर से मिलता है, जबकि स्वभाव का पास से। मैंने आपके स्वभाव के सम्बन्ध में सुना है कि आप बडे बड़े अपराधियों को क्षमा प्रदान करते हैं, आपका स्वभाव बड़ा कोमल है, सो महाराज, आपके स्वभाव की इस सत्यता को परखने के लिए ही आपके पास आया हूँ।' और जयन्त सन्त के निर्देशानुसार भगवान् राम के पास जाता है तथा उनके शरणागत होता है। दयालु प्रभु उसकी रक्षा करते हैं।

तो, जीव को अपने पास बुलाने के लिए प्रभु काल को चाहे तो बाण के रूप में प्रेरित करें, चाहे लक्ष्मण के रूप में। लक्ष्मणजी सुग्रीव के पास जाते हैं। सुग्रीव भय से काँपने लगते हैं। उन्हें लक्ष्मणजी के सामने जाने का साहस नहीं होता। वे हनुमानजी से कहते हैं--तुम तारा को साथ ले जाकर राजकुमार को समझाओ। पर हनुमानजी को डर नहीं लगता, क्योंकि वे ईश्वर के स्वभाव से परिचित हैं, लक्ष्मणजी के स्वरूप को जानते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति को ईश्वर

के काल के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो गया है. उसे पता है कि भय केवल दिखावटी है, वह नकली तलवार है; वह जान लेता है कि इस भय के पीछे करुणा की ही वृत्ति है। तभी तो हनुमानजी के अन्तःकरण में रंचमात्र भी भय नहीं है। वे तारा को लेकर लक्ष्मणजी के पास जाते हैं और एक चतुराई करते हैं। सामान्यतया जब आप किसी विशिष्ट व्यक्ति के पास जाते हैं, तो उसकी प्रशंसा करते हैं। पर यहाँ हनुमानजी ने श्री लक्ष्मण की प्रशंसा नहीं की। तब ?——

तारा सहित जाइ हनुमाना।
चरन बंदि प्रभु सुजस बखाना ॥ ४।१९।४

——वे लक्ष्मणजी के चरणों में प्रणाम कर भगवान् राम की प्रशंसा करने लगते हैं कि प्रभु का स्वभाव कितना कोमल है, कितना उदार है, वे कितने क्षमाशील हैं। हनुमानजी जानते हैं कि श्री लक्ष्मण भगवान् राम की कीर्ति-पताका के डण्डे हैं और वे किसी भी प्रकार इस झण्डे को झुकने नहीं देंगे। हनुमानजी का तात्पर्य यह है कि यदि लक्ष्मणजी अधिक कठोरता प्रदर्शित करेंगे, यदि दण्ड देंगे, तो उनका गौरव तो बढ़ेगा नहीं, उल्टे श्री राम की कीर्ति ही कम होगी। पहले मित्र बनाकर बाद में दण्ड देना उनके लिए किसी प्रकार शोभनीय न होगा। जब वे श्री राम की कीर्ति-पताका के रक्षक हैं, तो उस ध्वज को वे कभी झुकने

न देंगे। इसीलिए जब हनुमानजी भगवान् राम के यश का बखान करते हैं, तो लक्ष्मणजी का क्रोध तुरन्त शान्त हो जाता है। वे यह भी नहीं कहते कि किस उद्देश्य से आये हैं। गोस्वामीजी यहाँ पर एक बड़ा प्रतीकात्मक वाक्य लिखते हैं--

करि बिनती मंदिर लै आए।
चरन पखारि पलँग बैठाए॥ ४।१९।५

--हनुमानजी विनती करके लक्ष्मणजी को महल में ले आते हैं और चरणो को धोकर उन्हें पलँग पर बिठाते हैं। लक्ष्मणजी को पलँग पर बिठाना मानो उनके चरित्र का सच्चा स्वरूप प्रकट कर देना है। लक्ष्मण और पलँग का भला क्या सम्बन्ध है? पलँग कोई बैठने की जगह तो है नहीं, वह सोने की जगह है। फिर, लक्ष्मणजी तो पलँग छोड़कर, वैभव और भोग का त्याग कर वन में आये हुए हैं। यही नहीं, उन्होंने नहीं सोने का व्रत लिया है। कल इसका संकेत आपके सामने रखा गया था। काल निरन्तर चैतन्य है, वह नित्य जागृत है, वह कभी सोता नहीं। रावण ने अंगद से कहा था--जाकर राम से कह देना कि 'कुंभकरन अस बंधु मम' (६।२७)--मेरे कुम्भकर्ण जैसा महान् भाई है, उसके रहते मुझे क्या चिन्ता ? यह समाचार सुनकर भगवान् राम को हँसी आ गयी थी। प्रभु ने सोचा था कि जब रावण को छह महीना सोनेवाले अपने उस भाई पर गर्व हो सकता है, तो मुझे अपने

इस भाई पर कितना गर्व न होना चाहिए, जो कभी सोता नहीं, जो निरन्तर चैतन्य है, जाग्रत् है, हर क्षण सजग है। लक्ष्मणजी ऐसे भाई हैं, जो भगवान् राम के सो जाने पर भी निरन्तर प्रबुद्ध मुद्रा में बैठे रहते हैं--'जागन लगे बैठि बीरासन' (२।८९।२)। ऐसे लक्ष्मणजी को यदि बिठाना ही था, तो मृगचर्म पर बिठाते, बाघाम्बर डाल देते या कुश का आसन बिछा देते। पर पलँग पर बैठाने का क्या तुक? हनुमानजी कुछ बातें तो वाणी से कहते हैं और कुछ संकेत से। यदि लक्ष्मणजी पूछ देते कि यह भी कोई बैठने की जगह है, तो हनुमानजी मानो उत्तर देते--महाराज, यहाँ पर तो सब सोने ही सोने की जगह है। यदि यहाँ सोनेवाले जीव न होते, तो क्या भगवान् के कार्य को भुला देते? यहाँ तो पलँग बिछा ही रहता है और प्रत्येक जीव सो रहा है। जो लोग जगते दिख रहे हैं, वे भी वस्तुतः किसी मोहमयी निद्रा में, अपनी कल्पना में सो ही रहे हैं--

> मोह निसाँ सबु सोवनिहारा।
> देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥ २।९२।२

तो महाराज, ऐसे सोये हुए लोगों के पास आपके योग्य आसन भला कहाँ से हो सकता है? अगर आसन होता, तो ऐसी भूल ही क्यों होती? आपको कष्ट करके यहाँ तक क्यों आना पड़ता? सोते हुओं को जगाने के लिए ही आप कष्ट उठाकर यहाँ तक

आये हैं। सच ही तो है—काल चैतन्य करता है, जगाता है। पर यदि लक्ष्मणजी ने पुनः पूछा होता कि यह सब तो, भाई, ठीक है, पर तुमने मुझे पलँग पर क्यों बिठा दिया ? तो इसके उत्तर में हनुमानजी ने कहा होता——महाराज, इसलिए बिठाया कि जीव की नींद टूट जाय। बड़ी गहरी नींद आ रही है और हम सोने के लिए कमरे में गये। देखा कि कोने में एक साँप है। क्या नींद आएगी ? सारी नींद काफूर हो जायगी। और कोने की बात छोड़िए, कोई यदि पलँग पर साँप देख ले, तो क्या दशा हो ? फिर जब पलँग पर हजार सिरवाला साँप बैठा हो, तो क्या कोई सोने की कल्पना भी कर सकता है ? हनुमानजी का तात्पर्य यह है कि जब तक जीव काल के सत्य को भूले हुए है, तब तक भले वह सोया रहे, पर काल के स्वरूप को पहचानने के बाद वह कभी सो नहीं सकता। वह अपने घमण्ड के कारण ही काल को अनदेखा कर देता है। गोस्वामीजी लिखते हैं——

लघु जीवन संबतु पंच दसा।
कलपांत न नास गुमानु असा।। ७।१०१।४

——'मनुष्य का दस-पाँच वर्ष का थोड़ासा जीवन है, परन्तु घमण्ड ऐसा है, मानो कल्पान्त होने पर भी उसका नाश नहीं होगा।' ईश्वर के द्वारा प्रेरित काल जीव को झकझोरता है, उसके घमण्ड पर प्रहार करता है, उसे चैतन्य करता है और ईश्वर की ओर

ले जाता है। हम देखते हैं कि लक्ष्मणजी सुग्रीव को लेकर भगवान् राम के पास आते हैं और फिर से मैत्री का सूत्र बाँध देते हैं। उसके पश्चात् सुग्रीव के जीवन में प्रमाद और आलस्य का कोई प्रसंग नहीं आता। तो, लक्ष्मणजी अपनी कठोर भूमिका के द्वारा, काल के द्वारा जीव को चैतन्य करके प्रभु की ओर ले जाते है। यह काल कभी क्रूरता से, तो कभी कठोरता से, व्यक्ति को झकझोरकर जीवन के सत्य का साक्षात्कार करा देता है। जब व्यक्ति एक बार काल को सही अर्थ में पहिचान लेता है, तो उससे डरता नहीं, बल्कि उसे प्रभु के मंगलमय संकेत के रूप में ग्रहण करता है। हम ईश्वर को आज भले ही न देख सकते हों, पर काल तो दिखायी पड़ ही रहा है। जीवन में सतत घटनेवाले परिवर्तन को भला कौन नहीं देख पाता? काल को देखते हुए भी जब व्यक्ति उन्मत्त होकर उसकी अवहेलना करता है, विस्मृति करता है, तो प्रभु लक्ष्मणजी को प्रेरित करते हैं। यही लक्ष्मणजी की भूमिका है।

एक प्रसंग आता है। भगवान् राम समुद्र के किनारे अनशन कर रहे हैं। रावण उनकी सेना का भेद लेने गुप्तचर भेजता है। रावण के यहाँ तो बड़ा कड़ा प्रबन्ध है। एक मच्छर भी उसकी आज्ञा के बिना लंका में नहीं पैठ सकता। हनुमानजी मच्छर जैसा छोटा रूप बनाकर लंका के भीतर घुसने की

चेष्टा करते हैं, तो पकड़े जाते हैं। पर भगवान् राम की सेना में वैसा कोई कड़ा प्रबन्ध नहीं दिखता। रावण के दो गुप्तचर आये और कई दिनों तक श्री राम की सेना में बने रहे। ऊपर से ऐसा अवश्य लगता है कि श्री राम का प्रबन्ध शिथिल है और रावण का सुदृढ़। पर आन्तरिक तात्पर्य यह है कि रावण डरता है कि कोई उसका भेद न ले जाए, जबकि भगवान् राम चाहते हैं कि कोई भेद लेनेवाला आए तो। जिसमें कमी होती है, वह भेद खुलने के नाम से डरता है, पर जिसमें कमी नहीं होती, उसे भला किसका डर? वह तो चाहता ही है कि आकर कोई भेद ले ले। परिणाम यह हुआ कि रावण के जो गुप्तचर श्री राम का भेद लेने आये थे, वे कई दिनों तक श्री राम के पास बने रहे। भगवान् के सान्निध्य के प्रभाव से उनका कपट छूट गया और वे श्री राम से रावण की तुलना करने लगे——

> प्रगट बखानहिं राम सुभाऊ।
> अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ ।। ५।५१।१

पास के बन्दरों ने उनकी आपस की बातचीत सुन ली और वे समझ गये कि ये रावण के गुप्तचर हैं। वे दोनों को बाँधकर सुग्रीव के पास ले गये। सुग्रीव ने आज्ञा दी——'अंग भग करि पठवहु निसिचर' (५।५१।२)——इन राक्षसों के नाक-कान काटकर भेज दो।

जीव का स्वभाव बड़ा विचित्र है। वह अपने लिए तो कृपा चाहता है, पर दूसरे के लिए न्याय। सुग्रीव अपना अपराध भूल गये--बिसर गये कि उन्होंने भी त्रुटि की थी, पर प्रभु ने अपनी कृपा से उन्हें क्षमा प्रदान कर दिया था। वे इन गुप्तचरों को दण्ड देने की आज्ञा देते हैं और कहते हैं कि जब तक प्रभु अनशन में बैठे हुए हैं, उस बीच इन्हें दण्ड देने का कार्य सम्पन्न कर लो; क्योंकि सुग्रीव को डर है कि यदि प्रभु आ गये, तो वे इतने उदार हैं कि इन राक्षसों को छोड़ने की ही आज्ञा दे देंगे। सुग्रीव नीति का आश्रय लेते हैं और कहते हैं कि नीति में शत्रु के गुप्तचरों को छोड़ने की भला कहाँ बात है, उन्हें क्षमा भला कैसे दी जा सकती है? इधर गुप्तचर श्री राम की दोहाई देते हुए छोड़ दिये जाने की प्रार्थना करते हैं। वे कहते हैं--'जब तक हम सचमुच कपटी थे, छद्मवेश में आप लोगों के बीच घुसे हुए थे, तब तक तो आप हमें नहीं पकड़ पाये, और अब जब श्री राम के स्वभाव के द्वारा हममें परिवर्तन आ गया, हमने अपना कपट छोड़ दिया, तो आप हमें दण्ड दे रहे हैं। यह तो आप बड़ा अन्याय कर रहे हैं।' वे दीन होकर पुकारते हैं--'दीन पुकारत तदपि न त्यागे' (५।५१।५)। फिर भी बन्दर उन्हें नहीं छोड़ते। लक्ष्मणजी दूर से यह दृश्य देख रहे थे। उन्होंने बन्दरों से कहा--उन राक्षसों को मेरे पास ले आओ।

सुग्रीव प्रसन्न हुए। सोचा——लक्ष्मणजी तो बड़े कठोर हैं। मैंने तो केवल इनके नाक-कान काटने की ही बात कही है, शायद वे उन्हें सीधा प्राणदण्ड दे दें। पर उन्हें यह देख बड़ा आश्चर्य हुआ कि लक्ष्मणजी ने दोनों को छुड़ा दिया——

सुनि लछिमन सब निकट बोलाए।
दया लागि हँसि तुरत छोड़ाए ॥ ५।५१।७

फिर लक्ष्मणजी ने राक्षसों को एक पत्र दिया और कहा——'रावन कर दीजहु यह पाती' (५।५१।८)——रावण के हाथ में यह चिट्ठी दे देना। यह रावण के नाम काल का सन्देशा था। जो रावण अपने को काल का विजेता, काल का स्वामी मानता है, आज काल उसके पास अपनी पाती भेज रहा है और कह रहा है——

बातन्ह मनहि रिझाइ सठ जनि घालसि कुल खीस।
राम बिरोध न उबरसि सरन बिष्नु अज ईस ॥ ५।५६(क)
की तजि मान अनुज इव प्रभु पद पंकज भृंग।
होहि कि राम सरानल खल कुल सहित पतंग ॥५।५६(ख)

——'अरे मूर्ख! केवल बातों से ही मन को रिझाकर अपने कुल को नष्ट-भ्रष्ट न कर। श्री राम से विरोध करके तू विष्णु, ब्रह्मा और महेश की शरण जाने पर भी नहीं बचेगा। या तो अभिमान छोड़कर अपने छोटे भाई विभीषण की भाँति प्रभु के चरणकमलों का भ्रमर बन जा, अथवा रे दुष्ट! श्री राम के बाणरूपी अग्नि में परिवार सहित पतिंगा हो जा।'

यही काल का सन्देशा है। काल हमारे नाम भी अपनो पाती भेजता है, पर हम उसे पहिचान नहीं पाते। रावण भी काल के सन्देश को उपेक्षा करता है और विनाश को प्राप्त होता है। इधर जब भगवान् राम अनशन समाप्त कर लौटे, तो उन्हें सारी घटना का पता चला। उन्होंने हँसकर लक्ष्मणजी को हृदय से लगा लिया और कहा, "लक्ष्मण! आज तुम पकड़े गये। तुम कहने को तो कठोरता का स्वाँग करते हो, पर मेरे न रहने पर वही करते हो जो मैं करता!" इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् राम जिस सिद्धान्त के पक्षधर हैं, श्री लक्ष्मण भी उसी के पक्षधर हैं। अन्यथा वे चाहते तो रावण के गुप्तचरों को दण्ड दे सकते थे, पर वे तो जीव को ईश्वर के समीप पहुँचाना चाहते हैं, उससे दूर करना नहीं। यही उनकी भूमिका है, फिर इसके लिए चाहे उन्हें कठोर होकर जीव के हृदय में भय की सृष्टि करनी पड़े, अथवा सदय होकर प्रीति की।

•

पदं गच्छन्त्यनामयम्

(गीताध्याय २, श्लोक ५१)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

बुद्धियुक्ताः (समबुद्धि से युक्त) मनीषिणः (मनीषी लोग) कर्मजं फलं (कर्म से उत्पन्न फल को) त्यक्त्वा (त्यागकर) जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः (जन्मरूप बन्धन से अच्छी तरह मुक्त हो) अनामयं (दुःखरहित) पदं (पद को) हि (ही) गच्छन्ति (प्राप्त करते हैं) ।

"समत्व-बुद्धि से युक्त मनीषी लोग कर्म से उत्पन्न होनेवाले फल को त्यागकर जन्मरूप बन्धन से सदैव के लिए मुक्त हो जाते हैं तथा दुःखरहित स्थान को ही प्राप्त होते हैं ।"

पूर्व श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि -बुद्धियोग सुकृत और दुष्कृत दोनों के नाश में सहायक होता है । सुकृत और दुष्कृत की विस्तृत व्याख्या हमने पिछली चर्चा में की है । सामान्य रूप से सुकृत वे हैं, जो स्वर्गादि फल प्रदान करते हैं और दुष्कृत वे हैं, जिनसे नरकादि फल मिला करता है । भगवान् की बात सुनकर अर्जुन को ऐसा लगा कि समत्व-बुद्धि से युक्त होने पर यदि स्वर्ग या नरक कुछ भी न मिले, तो फिर मिलेगा क्या ? अर्जुन से भगवान् ने अब तक दो ही प्रकार की प्राप्ति

की बात कही थी; या तो कहा था कि स्वर्ग मिलेगा—'यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्,' 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्', या फिर कहा था कि पाप की प्राप्ति होगी—'हित्वा पापमवाप्स्यसि'। पर उन्होंने कहीं पर यह नहीं कहा कि यदि स्वर्ग और पाप दोनों न मिलें, तो क्या मिलेगा। केवल एक स्थान पर (२/१५) इतना अवश्य कहा था कि जिम धीर पुरुष को सुख और दुःख व्यथित नहीं करते, वह अमृतस्वरूप हो जाता है। पर यह बात इसी जीवन को लक्ष्य करके कही गयी है। वहाँ यह सूचित किया गया है कि ऐसा पुरुष इस जंवन में अमृततुल्य हो जाता है। किन्तु प्रस्तुत श्लोक में यह बताया जा रहा है कि समत्व-बुद्धि का चरम फल क्या है। बताया गया कि वह चरम फल है अनामय पद। 'आमय' शब्द का तात्पर्य दुःख-क्लेश, भय-दोष आदि से होता है। अतः अनामय पद वह स्थान है, जहाँ न दुःख है, न क्लेश, न भय, न दोष।

अनामय पद कौन प्राप्त करता है?—वह, जो बुद्धियोगी है, कर्मजनित फलों का त्यागी है, मनीषी है। ये तीन विशेषण उस व्यक्ति के लिए लगाये गये। पिछली चर्चा में हमने बुद्धियोग का तात्पर्य हृदयंगम किया। सिद्धि और असिद्धि, अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में बुद्धि के समत्व को बनाये रखना बुद्धियोग कहलाता है। यह बुद्धियोग

तभी टिकाऊ होता है, जब उसके साथ कर्मजनित फलों का त्याग जुड़ा होता है। बिना कर्मफल-त्याग के बुद्धियोग में प्रखरता नहीं आती। कर्मफल-त्याग का अर्थ है--कर्म तो करना, पर उसके फल को अपने लिए स्वीकार न कर समाज के लिए दे देना। जैसे, एक किसान है। वह अपने खेत में खेती ही नहीं करता, उसे बिना बोये छोड़ देता है--यह एक अवस्था है। बोकर उसमें उत्पन्न फसल को नहीं काटता--यह दूसरी अवस्था है। और बोकर, उपजी हुई फसल को काटकर अपने उपयोग के लिए नहीं लेता बल्कि गाँव के निर्धनों के हेतु दे देता है--यह तीसरी अवस्था है। तो, जिस कर्मफल-त्याग की बात भगवान् करते हैं, वह यह तीसरी अवस्था है। अर्थात् व्यक्ति बुद्धियोग के बल पर जीवन की अनुकूल परिस्थितियों में न तो उद्वेलित होगा, न ही प्रतिकूल परिस्थितियों में उद्विग्न, और वह अपने कर्मों से प्राप्त फलों को अपने लिए न लेकर समाज के हित के लिए बाँट देगा। यहाँ पर कर्मफल-त्याग से तात्पर्य अच्छे कर्मों के फलों का त्याग लेना चाहिए, क्योंकि जिस व्यक्ति का प्रकरण चला हुआ है, वह तो अशुभ कर्म करेगा ही नहीं। जो साधक है, जीवन के चरम लक्ष्य को पा लेना चाहता है, वह बुरे कर्मों की ओर अग्रसर क्योंकर होगा? अतः तात्पर्य यह है कि व्यक्ति शुभ कर्मों का, कर्तव्य-कर्मों का सम्पादन करे और

विपरीत परिस्थितियों में बुद्धि को विचलित न होने दे, तथा उसे जो कर्मफल प्राप्त होंगे, उन्हें समाज के हित के लिए वितरित कर दे। पर भगवान् एक तीसरा विशेषण और जोड़ देते हैं--'मनीषी'। व्यक्ति बुद्धियोगी हो, कर्मफलत्यागी हो, और साथ ही मनीषी भी हो। मनीषी वह है, जो अपनी मन की शक्ति पर प्रभुत्व रखता है--'मनसः ईष्टे इति मनीषी'। जो मन आदि सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने वश में रखता है, जो संयमी है, ऐसा व्यक्ति ही मनीषी कहलाने योग्य है। कर्मफलत्यागी यदि मनीषी न हो, तो अपने त्याग का रस ले सकता है। भले ही वह बुद्धियोगी है, पर सम्भव है अपने त्याग का गौरव करने लगे। ऐसा गौरव भी अहंकार का ही एक दूसरा रूप है और वह व्यक्ति को लक्ष्य से च्युत कर सकता है। इसीलिए भगवान् ने ये तीनों विशेषण उस चरम लक्ष्य की प्राप्ति के सन्दर्भ में लगाना आवश्यक समझा। और जो व्यक्ति इन तीनों विशेषणों से युक्त है--बुद्धियोगी है, कर्मफलत्यागी है, मनीषी है, वह जन्मरूप बन्धन से भलीभाँति मुक्त हो उस निर्दोष, आनन्दमय पद को प्राप्त करता है, अर्थात् संसार के आवागमन के चक्कर से छूटकर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

यहाँ प्रश्न उठाया जा सकता है कि कर्मयोग से सीधे मोक्ष कैसे मिल सकता है? कहा गया

--'ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः'--ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। मोक्ष जब ज्ञान का फल है, तो वह कर्म के फल के रूप में कैसे प्राप्त हो सकता है? कर्मयोग से मुक्ति तक जाने का क्रम तो यह है कि कर्मयोग से चित्तशुद्धि होती है, एसे शुद्ध चित्त में ज्ञाननिष्ठा के धारण की क्षमता आती है, तब ज्ञाननिष्ठा उपजती है और उससे ज्ञान आता है। तब कहीं उस ज्ञान से मोक्षपद प्राप्त होता है। पर यहाँ तो कह दिया कि कर्मयोग से सीधे वह मोक्षरूप अनामय पद प्राप्त होता है। यह कैसे? इसके उत्तर में कहा जाता है कि यहाँ पर मनीषी शब्द से ज्ञान का आविर्भाव ही सूचित हुआ है। मनीषी वह है, जिसने मन और इन्द्रियों पर अधिकार करने के फलस्वरूप जीवन में ज्ञान की प्रतिष्ठा की है। फलस्वरूप वह जन्मरूप बन्धन को अच्छी तरह काट लेता है। 'जन्मबन्धविनिर्मुक्त' जीवन्मुक्ति की अवस्था सूचित करता है। वह ज्ञान की ही अवस्था है, और जो इस प्रकार जीवन्मुक्त हो गया, वह शरीरपात के बाद अनामय पद को प्राप्त कर लेगा।

एक दूसरी शंका उपस्थित की जा सकती है। जैसे यहाँ बताया कि फलत्यागरूप कर्मयोग के द्वारा अनामय पद प्राप्त होता है। अब कर्म से जो भी फल प्राप्त होता है, वह कर्म के ही समान नाशवान् । तो क्या यह जो अनामय पद-रूप फल मिला,

उसका भी नाश नहीं हो जायगा ? इसका समाधान यों दिया जाता है कि अनामय पद किसी क्रिया का परिणाम नहीं है। वह तो सदैव से है। जो क्रिया का परिणाम होता है, उसका नाश अवश्य होता है। पर जो शाश्वत है, उसे क्रिया केवल अनावरित करती है, पैदा नहीं। अज्ञान के कारण यह जन्म-मरण-रूप बन्धन या आवरण इस अनामय पद को ढके हुए है। जब कर्मयोग, फलत्याग और मनीषा के द्वारा व्यक्ति अपने अज्ञानरूपी मल को पोंछता है, तो यह ढका हुआ अनामय पद अनावरित हो जाता है। जैसे एक दर्पण को लें, जो धूल से ढक गया है। पोंछनारूपी क्रिया दर्पण को उत्पन्न नहीं करती, बल्कि दर्पण के धूल-रूप आवरण को हटा भर देती है और जो दर्पण पहले से है, वह प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार अनामय पद कर्मयोग से उपजता नहीं, अपितु अप्रकट से प्रकट हो जाता है। अतएव उसके नाश का प्रसंग किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता।

'जन्मबन्धविनिर्मुक्त' का अर्थ 'जन्म के बन्धन से मुक्त' भी किया जा सकता है और 'जन्मरूप बन्धन से मुक्त' भी। जन्म एक बन्धन ही है और इस बन्धन का नाश होने पर ही अनामय पद प्राप्त होता है।

'पद' शब्द का अर्थ होता है वह जो अन्त में

प्राप्त किया जाय--'पद्यते इति पदम्'। वह कोई भौतिक या भौगोलिक स्थानविशेष नहीं है, वह तो एक अवस्था है। आचार्य शंकर पद को आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं। वे इस श्लोक पर भाष्य करते हुए लिखते हैं--'पदं--परमं विष्णोः मोक्षाख्यं' --अर्थात्, 'विष्णु के मोक्ष नामक परम अवस्था को पद कहते हैं।'

अन्त में एक प्रश्न और उठाया जा सकता है कि जन्म-बन्धन को काटने की क्या आवश्यकता है? क्या इसी जन्म में हमें सुख आदि नहीं मिला करते? फिर 'अनामय पद' यानी दुःखरहित पद पाने के लिए इस जीवन के सुखों के बहिष्कार करने का क्या मतलब? इसका उत्तर यह है कि जीवन में सुख तो है, पर आभास के रूप में है, यथार्थ में नहीं। यहाँ आमय--पीड़ा--ही अधिक है। जो संसार के दुःख में भी सुख देखते हैं, उनकी चर्चा यहाँ नहीं हो रही है। यहाँ तो उनके सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है, जो साधक हैं और जो संसार में प्राप्त होनेवाले सुखों से अतृप्त हैं। जो अभाव में पला है, उसके लिए प्राचुर्य काम्य हो सकता है, पर जो प्राचुर्य में रहकर आमय का अनुभव कर रहा है, उसकी समस्या तो यह अनामय पद ही दूर कर सकता है।

संसार में व्यक्ति के पास जब भी सुख आता है, तो वह दुःख का ताज पहनकर आता है। सुख

के साथ हमें दुःख लेना ही पड़ता है। जब तक सुख की मात्रा अधिक होती है और दुःख की अल्प, तब तक तो व्यक्ति उसे स्वीकार करता है, पर यदि दुःख की मात्रा अधिक हो, तो वह उससे कतराता है। जैसे, खीर बढ़िया बनी हो, तो कितनी काम्य होती है, पर यदि उसमें एक बूंद भी विष गिर जाय, तो वह खीर फिर काम्य न रहेगी, हेय हो जायगी। इसी प्रकार विवेकी के लिए संसार के सुख विष की बूंद पड़ी हुई खीर के समान हैं और इसीलिए वह अनामय पद की अभिलाषा करता है। पतंजलि अपने 'योगसूत्र' में लिखते हैं--'परिणामतापसंस्कार-दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (२।१५), अर्थात्, 'परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख--ऐसे तीन प्रकार के दुःख सबमें विद्यमान रहने के कारण और तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने कारण विवेकी के लिए सब के सब दुःखरूप ही हैं।' इस कथन का तात्पर्य यह है कि सुख का परिणाम, सुख का ताप और सुख का संस्कार--ये तीनों दुःखरूप होते हैं, फिर गुण की वृत्तियों में परस्पर विरोध होता है, इसलिए विवेकी पुरुष संसार के सुखमात्र को दुःखरूप ही समझता है।

संसार का कोई भी सुख जब हमसे दूर होता है, तो हमें दुःख होता है। प्रत्येक सुख का अन्त में वियोग होता है। धन-जन-पुत्र-कलत्र ये सब हमें

सुखरूप भासते हैं। पर एक दिन इन सबका वियोग हमें सहना पड़ता है। हम अपनी प्रिय वस्तु खाते हैं, हमें सुख होता है। पेट भर जाने पर अब उसी वस्तु को देखकर उबकाई आती है। यह सुख का परिणाम हुआ, जो दुःखरूप हो गया। तर्क हमें समझा देता है कि जिसका परिणाम दुःख हुआ, उसका प्रारम्भ भी दुःखरूप ही था। अतः जो प्रारम्भ में सुख दिखायी देता था, वह आभास मात्र ही था। यह सुख का परिणाम दुःख हुआ।

उसी प्रकार सुख का ताप दुःखरूप होता है। सुख का भोग करते समय उसके छिन जाने या नष्ट हो जाने की सम्भावना से भय के कारण तापदुःख बना रहता है। फिर भोगों की प्राप्ति में तारतम्य होता है। जिसे दूसरे से कम भोग मिला, वह ईर्ष्या से जलता रहता है। पड़ोसी की पदोन्नति हुई और मेरी भी, पर पड़ोसी को १०० रुपये अधिक मिले, तो मैं अपनी पदोन्नति का सुख नहीं भोग पाता। एक ईंट के व्यवसायी थे। एक साल उन्हें अच्छा खासा मुनाफा हुआ। जब उनसे पूछा गया कि "सेठजी, क्या बात है, इस साल तो आपको अच्छा मुनाफा हुआ है, फिर भी आप खुश नजर नहीं आ रहे हैं," तो उन्होंने कहा, "क्या बताएँ! इस साल मुनाफा तो हुआ, पर पिछले साल हम इतना नहीं कमा पाए इसका अफसोस बना हुआ है।" जब उनसे कहा गया, "सेठजी, छोड़िए पिछले साल की बात।

इस साल तो आपने पिछले साल की भी कसर पूरी कर ली है। अब तो सुख मनाइए," तो उन्होंने उत्तर दिया, "कैसे सुख मनाएँ, मेरे पड़ोसी भट्ठेवाले ने तो मुझसे ड्यौढ़ा कमा लिया है!" अब इस दुःख का क्या इलाज है? यह तापदुःख है, यह किसी प्रकार सुख का भोग नहीं करने देता।

इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त प्रचलित है। कोई व्यक्ति एक महात्माजी की बड़ी सेवा किया करता। एक दिन महात्माजी ने उससे कहा, "तेरी सेवा से मैं प्रसन्न हूँ। बोल तू कुछ चाहता है?" उस व्यक्ति ने कहा, "महाराज, मेरा कपाल खोटा है, कभी कुछ कमा नहीं पाता। घर में खर्च पूरा नहीं हो पाता। पत्नी ताने मारती रहती है। इसलिए घर जाने की भी इच्छा नहीं होती। ऐसा कुछ कर दीजिए, जिससे कुछ धनप्राप्ति हो सके।" महात्माजीको दया आ गयी। उन्होंने उसे एक मंत्र दिया और कहा, "जा, इस मंत्र से तू समुद्र की उपासना करना। तेरी उपासना से एक दिन समुद्र सन्तुष्ट होकर तेरी कामना पूर्ण कर देगा।" वह व्यक्ति भक्तिपूर्वक महात्माजी द्वारा बतायी गयी पद्धति से समुद्र की उपासना करने लगा। समुद्रदेवता प्रसन्न हो गये, उन्होंने उस व्यक्ति को एक शंख प्रदान किया और कहा, "लो, यह मंत्र सीख लो, पवित्र स्थान पर यह शंख रखकर उसकी पूजा करना। धन-जन-सम्पत्ति जो माँगोगे, वही पाओगे।"

वह व्यक्ति बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने समुद्रदेवता को प्रणाम कर उनसे विदा ली। चलते चलते समुद्र ने कहा, "जरा और भी सुनते जाओ। इस शंख में यह भी गुण है कि तुम्हें भला या बुरा जो भी मिलेगा, उसका दुगुना तुम्हारे पड़ोसी को मिल जायगा।" बस, क्या था, सुनते ही उपासक का चित्त खिन्न हो गया। सोचने लगा––वाह! तप मैंने किया और पड़ोसी बैठे बैठे दूना फल पायगा! यह नहीं हो सकता। मैं पड़ोसी को नहीं पाने दूँगा। वह घर लौटा और शंख को एक कोने में पटक दिया। पत्नी के पूछने पर उसने सब बता दिया, पर शंख की पूजा करने से मना कर दिया। उसके दिन पहले के समान गरीबी में कटने लगे। टूटी-फूटी झोपड़ी में वर्षा का जल रिसता रहता, ठण्डी हवा सायँ सायँ करके भीतर घुसकर उन लोगों को कँपाती रहती। एक दिन तो अन्न के भी लाले पड़ गये। वह व्यक्ति कहीं बाहर गया हुआ था। भूख की मार न सह सकने के कारण उसकी पत्नी ने शंखदेवता की शरण ली। झोपड़ी के लिपे-पुते स्थान में शंख को स्थापित कर उसने श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पति के मुख से सुने मंत्र के द्वारा शंख की उपासना की और रहने के लिए एक भवन तथा खाने-पीने के लिए सामग्री की याचना की। उसके हर्ष का ठिकाना न रहा, जब उसने देखा कि उसकी झोपड़ी एक सुन्दर भवन में परिवर्तित हो गयी है

तथा विभिन्न स्वादिष्ट पकवानों के थाल सजे हुए हैं। वह अपने पति का स्वागत करने के लिए द्वार पर जाकर खड़ी हो गयी । जब वह व्यक्ति लौटा, तो उसे अपनी झोपड़ी ही दिखायी न पड़ी। वहाँ पर तीन नये सुन्दर भवनों को देख वह आश्चर्य से गड़ गया। इतने में उसकी दृष्टि अपनी पत्नी पर पड़ी, जो एक भवन के दरवाजे पर खड़ी हो उसे अपने हाथ से बुला रही थी। वह भवन के भीतर गया, तो पत्नी ने उल्लसित हो उसे सुन्दर पकवानों के थाल दिखाए और शीघ्र भोजन के लिए बैठने को कहा। जब उसे पता चला कि यह सब शंखदेवता की करामात है और दो नये भवन पड़ोसी के हैं तथा पड़ोसी को खाद्य सामग्री भी दुगुनी मिली है, तो ईर्ष्या के मारे वह अपनी भूख भूल गया। उसने पकवानों को छुआ तक नहीं । पत्नी ने बहुतेरा समझाया, पर उसके हृदय का ताप कम न हुआ। इतने में उसे कुछ सूझा। उसने शंखदेवता को साफ-सुथरी भूमि पर स्थापित किया और उसकी उपासना करके याचना की--हे शंखदेवता, मेरे घर के आगे एक बावली बन जाय और मेरे घर के लोगों की एक एक आँख फूट जाय। फिर क्या था, पड़ोसी के घर के सामने दो बावलियाँ खुद गयीं और उसके परिवार के सभी सदस्यों की दोनों आँखें फूट गयीं। वे लोग रोते कलपते जब इधर उधर चलते बावलियों में गिरने लगे, तो उस व्यक्ति को

बड़ा सन्तोष हुआ। यह दृष्टान्त अवश्य कल्पित है, पर यह तापदुःख की विकरालता प्रदर्शित करता है। इसके कारण व्यक्ति प्राप्त सुख का भोग भी शान्तिपूर्वक नहीं कर सकता। उसके अन्तर में हाहाकार मचा रहता है। फिर, यदि भोग अपूर्ण रहे, तो वह भोगकाल में सन्ताप का कारण होता है। यह भी तापदुःख है।

इसी प्रकार सुख का संस्कार भी दुखःरूप होता है। एक सुख हमने भोगा और वह परिणाम में और भी अधिक सुख की लालसा हममें पैदा कर देता है। इन्द्रियों को सुख-भोग की आदत पड़ जाती है और वे अधिकाधिक सुख की चाह करती हैं और जब इच्छानुकूल सुख नहीं मिलता तो दुःख पैदा होता है। ययाति का दृष्टान्त स्मरणीय है। सुख का संस्कार कभी तृप्त न होनेवाली तृष्णा को जन्म देता है। आज का पश्चिमी समाज इसका उदाहरण है। मनुष्य की पाशविक वृत्ति उसे कहाँ तक नीचे ले जा सकती है इसकी कोई सीमा नहीं। और यह सब सुख पाने के नाम पर होता है। पहले शराब के एक पेग में सुख दिखायी देता है, फिर वही सुख पाने के लिए पेग की संख्या बढ़ती रहती है। उससे भी तृप्ति नहीं। ड्रग्ज (नशीली दवाओं) का सेवन किया जाता है, विभिन्न प्रकार के यौन-स्वैराचार किये जाते हैं, जिससे सुख मिल सके। और यह सब तो किसी किसी के द्वारा धर्म और अध्यात्म के नाम पर किया

जाता है ! इससे 'रिप्रेशन' दूर होता है या बढ़ता है ? मनोग्रन्थियाँ सुलझती हैं या उलझती हैं ? यही सुख का संस्काररूप दुःख है, जो सतत व्यक्ति में तृष्णा को भड़काकर मृगजल की सृष्टि किया करता है ।

फिर अन्त में है गुणवृत्तिविरोध । गुणों के कार्य को गुणवृत्ति कहते हैं, उनके कार्यों में परस्पर विरोध है। जैसे सत्त्वगुण का कार्य यदि प्रकाश, ज्ञान और सुख है, तो तमोगुण का कार्य है अन्धकार,अज्ञान और दुःख । इस प्रकार इनके कार्यों में विरोध होने के कारण दुविधा बनी रहती है और सुख के भोग-काल में भी शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि तीनों गुण सदैव एक साथ रहते हैं। जब सुख का अनुभव होता है, तब सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, पर उस समय रजोगुण और तमोगुण का अभाव नहीं हो जाता, इसलिए उस समय भी दुःख और शोक विद्यमान रहते हैं। फलतः वह सुख वास्तव में दुःखरूप ही होता है। जैसे ध्यान करते समय या सत्संग में रहते समय सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, अतः सात्त्विक सुख होता है, परन्तु वहाँ भी रजोगुण जब सांसारिक स्फुरणा पैदा करता है अथवा तमोगुण तन्द्रा ला देता है, तो उस सुख में विघ्न उपस्थित होता है। ऐसा ही अन्य कार्यों में भी समझ लेना चाहिए ।

तो, विवेकी पुरुष उपर्युक्त चारों कारणों से समस्त सुख को दुःखरूप ही मानता है, इसलिए कर्म

से उत्पन्न फलों में वह आमय अर्थात् रोग-भय-दुःख आदि ही देखता है। अतएव वह ऐसे पद की कामना करता है, जिसमें किसी प्रकार का आमय न हो और जिसका कभी नाश न हो। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को विश्वास दिलाते हैं कि ऐसा अनामय पद प्रत्येक व्यक्ति के भीतर आत्मा के रूप में शाश्वत काल से विद्यमान है, पर अज्ञान के कारण वह ढका हुआ है। अज्ञान के कारण ही रस्सी ढक जाती है और सर्प दिखायी देता है, फलस्वरूप आमय की उत्पत्ति होती है। पर जब ज्ञान आता है, तो सर्प उड़ जाता है और रस्सी अनावरित हो जाती है, फलस्वरूप सर्प-बोध से उत्पन्न आमय भी तत्काल नष्ट हो जाता है। अतएव बुद्धियोग के द्वारा कर्म से उत्पन्न फलों का त्याग करते हुए मनीषी पुरुष को चाहिए कि वह अज्ञान से उत्पन्न इस जन्मरूप आवरण को काट ले और उस शाश्वत अनामय पद को प्राप्त कर ले।

बुद्धियोग की ऐसी महत्ता सुन अर्जुन बड़ा प्रभावित हुआ। उसे यह अभय पद बड़ा लुभावना लगा। उसके मन में इस पद की प्राप्ति की कामना जगी और वह सोचने लगा कि यह पद कितने काल में प्राप्त हो सकेगा ? अन्तर्यामी भगवान् उसकी इस जिज्ञासा का अनुमान कर जो उत्तर देते हैं, उसकी चर्चा अगले प्रवचन में की जायगी।

•

विवेकानन्द जयन्ती समारोह

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्वावधान में विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द जी का ११७ वाँ जयन्ती-महोत्सव आश्रम के प्रांगण में २० जनवरी १९७९ से लेकर ११ फरवरी १९७९ तक पृष्ठांकित कार्यक्रम के अनुसार मनाया जा रहा है। समारोह का उद्‌घाटन रविवार, २८ जनवरी १९७९ को संसद सदस्य, माननीय डॉ. कर्णसिंह जी (भूतपूर्व जम्मू-काश्मीर नरेश) के द्वारा सम्पन्न होगा। कार्यक्रम सबके लिए खुला है।

कार्यक्रम

★ शनिवार, २० जनवरी ★

स्वामी विवेकानन्द जन्म-तिथि उत्सव

मंगल आरती, प्रार्थना, ध्यान	प्रात: ५। से ६।। बजे तक
विशेष पूजा, हवन एवं आरती	प्रात: ७।। से १२ बजे तक
सान्ध्य आरती	सायंकाल ६ बजे

* शनिवार, २० जनवरी — सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–"क्रान्तिद्रष्टा विवेकानन्द"

* रविवार, २१ जनवरी — सुबह ८।। बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

* रविवार, २१ जनवरी — सायंकाल ५ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–" इस सदन की राय में राष्ट्र की बहुविध समस्याओं के लिए गाँधीवाद ही सर्वश्रेष्ठ हल प्रस्तुत कर सकता है।"

* सोमवार, २२ जनवरी सायंकाल ६ बजे

माध्यमिक शाला पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता

(प्रथम दो श्रेष्ठ प्रतियोगियों को व्यक्तिगत पुरस्कार)

* मंगलवार, २३ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–" यदि स्वामी विवेकानन्द मेरे बड़े भाई होते "

* बुधवार, २४ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–" इस सदन की राय में तलवार की अपेक्षा कलम में कहीं अधिक ताकत होती है।"

* गुरुवार, २५ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–" प्रेम और करुणा की मूर्ति स्वामी विवेकानन्द "

* शुक्रवार, २६ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–" इस सदन की राय में राष्ट्र की प्रगति हेतु छोटे राज्यों का गठन कहीं अधिक लाभकारी सिद्ध होगा।"

* शनिवार, २७ जनवरी सायकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता
(रनिंग शील्ड)

* रविवार, २८ जनवरी सायंकाल ६ बजे

विवेकानन्द जयन्ती समारोह उद्घाटन

प्रमुख अतिथि : डॉ. कर्णसिंह जी, संसद सदस्य
(भूतपूर्व जम्मू-काश्मीर नरेश)

विषय :–" वर्तमान राष्ट्रीय चारित्रिक संकट और स्वामी विवेकानन्द "

* २९ जनवरी से ४ फरवरी तक प्रतिदिन सायंकाल ७ बजे

रामायण-प्रवचन

प्रवचनकार : पं रामकिंकरजी महाराज
भारत के सुविख्यात रामायणी)

* ५ फरवरी से ७ फरवरी तक प्रतिदिन सायकाल ७ बजे

आध्यात्मिक प्रवचन

प्रवचनकार : (१) राजेश रामायणी
(२) बालयोगी विष्णु अरोड़ा (१५ वर्षीय बालक)

* ८ फरवरी से ११ फरवरी तक प्रतिदिन सायंकाल ७ बजे

रामायण-प्रवचन

प्रवचनकार : श्रीमती कृष्णादेवी मिश्र, भागलपुर

श्री माँ सारदा देवी का १२६ वाँ

जयन्ती महोत्सव

जन्मतिथि पूजा शुक्रवार, २२ दिसम्बर १९७८

(मन्दिर में कार्यक्रम)

मंगलारती, प्रातःवन्दना और ध्यान प्रातः ५। से ६।। बजे

विशेष पूजा, भजन, हवन, आरती प्रातः ७।। से १२ बजे

सान्ध्य आरती, प्रार्थना और भजन सायं. ६ से ८ बजे

जन्मोत्सव सार्वजनिक सभा

(सत्संग भवन में)

रविवार, २४ दिसम्बर १९७८ सन्ध्या ५ बजे से

•

श्री रामकृष्णदेव का १४४ वाँ

जयन्ती-महोत्सव

जन्मतिथि पूजा बुधवार, २८ फरवरी १९७९

(मन्दिर में कार्यक्रम)

मंगलारती, प्रातःवन्दना और ध्यान प्रातः ५। से ६।। बजे

विशेष पूजा, भजन, हवन, आरती प्रातः ७।। से १२ बजे

सान्ध्य आरती, प्रार्थना और भजन सायं ६।। से ८ बजे

जन्मोत्सव सार्वजनिक सभा

(सत्संग भवन में)

रविवार, ४ मार्च १९७९ सन्ध्या ५।। बजे से

•